दर्शन

साहित्य

और

इतिहास

●

श्री शान्तिस्वरूप गुप्त

श्री शान्तिस्वरूप गुप्त

मूल स्थान : गुरावड़ा (हरियाणा)
जन्म स्थान : गुड़गांव (गुरुग्राम, हरियाणा)
पिता : श्री सुन्दरलाल
जन्म : वैशाख कृ० ८,
(२३ अप्रैल,
रुचि : वैदिक साहित्
दर्शन, सन्त - साहित्य,
हिन्दी, उर्दू, अंगरेजी),
होमियोपैथी, यूनानी
सामुद्रिक शास्त्र, समा
विभिन्न धर्म, चंक्रमण।

श्री शान्तिस्वरूप
व्यवसायी, गहन अध्येता
उर्दू, अंगरेजी साहित्यों
अत्यन्त रसिक, वाव
विनोदशील, परम
सात्त्विक मित्र, उदारचे
भावुक पुरुष हैं।
विचार, लेखन और
भ्रमण इनकी स्वामावि
अनेक पत्र-पत्रिकाओं में
रहे हैं।

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

दर्शन,

साहित्य,

और

इतिहास

•

श्री शान्तिस्वरूप गुप्त
६ ए, आउट्रम स्ट्रीट,
कलकत्ता—१७

विषय-विन्यास

आमुख

मेरी अहर्निश साहित्यिक साधना की आंतरिक भावनाओंसे भरा यह ग्रन्थ पाठकोंकी सेवा में उपस्थित है।

वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की विजय श्लाघनीय है किन्तु वह आश्चर्यजनक होते हुए भी केवल भौतिक जीवनोपयोगी सुख-साधन प्राप्त कराने मात्र में ही समर्थ है। यह हमारी आध्यात्मिक उलझनों को सुलझाने में सर्वथा असमर्थ है। महाकवि पंत के शब्दों में—

> मानव ने पाई देश-काल पर जय निश्चय।
> मानवके पास न पर मानव का आज हृदय।।
> चाहिये विश्व को आज भावका नवोन्मेष।
> मानव - उरमें फिर मानवता हो प्रवेश।।

उपनिषद्-काल में अध्यात्मवाद के प्रचार के कारण मानव-चरित्र चरम सीमापर आसीन था। लेकिन आज दुर्भाग्य से हमारे देश में स्वाध्याय का लोप हो गया है। जन-जीवन में मानवता का स्थान दानवता ने ग्रहण कर लिया हैं। आजका मानव, मानव के ही रक्त का पिपासु बन बैठा है। कहाँ तो हमारा आदर्श था—

> जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
> बंदहुँ सब के पद-कमल, सदा जोरि जुग पानि।।

—और कहाँ आज का युग जब कामिनी-कांचन की प्राप्ति के लिये मनुष्य किसी भी गर्हित उपाय को ग्रहण करने में झिझकता नहीं है। अब विवश होकर मानव पुकारता है :—

> कथं तरेयं भवसिंधुमेतत्, का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः।
> जाने न किञ्चित् कृपयावमांभोः संसारदुःखक्षतिमातुनुष्ठ।।

[माँ! इस दुस्तर संसार-सिंधु को कैसे पार करूँगा? मेरा क्या कभी दुःखों से छुटकारा हो सकेगा?] तो क्षितिज से आवाज आती है:—

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्ति नाशः संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः ।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं, तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥

[अरे दुखी मानव ! तेरा विनाश नहीं होगा, तू क्यों भयभीत होता है ? भवसागर पार करने के लिये यति, योगी एवं संत महात्माओं के मार्ग का अनुसरण कर ।]

महाजनो येन गतः स पन्था ।

पुस्तक का दर्शन भाग इन्हीं गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास है ।

साहित्य भाग में महाकवि के देव के विवादग्रस्त जीवन - चरित्र का प्रामाणिक तथा स्वयं-कथित तथ्यों के द्वारा भ्रम-निवारण का प्रयास है तथा उनके अनेक अप्रकाशित ग्रन्थों में से उदाहरण देकर उनका परिचय भी दिया गया है । साहित्य के विद्यार्थियों के लिये यह शोध बड़ा उपयोगी प्रमाणित होगा, ऐसी आशा है ।

दूसरे, राधा-कृष्ण को नायक-नायिका मानकर रीतिकालीन कवियों का जो उद्दाम शृंगारिक वर्णन है वह आज के युग में कटु चर्चा का विषय बन गया है । तथ्यों-द्वारा उसका औचित्य प्रमाणित किया गया है ।

इतिहास भाग में वैश्यों के उपलब्ध अप्रामाणिक इतिहास को प्रामाणिक एवं शृंखलाबद्ध बनाने का प्रयास है ।

गत तेरह पीढ़ियों से जिस कुल में वेदों का पठन-पाठन होता चला आया है और जिनका निवास-स्थान भी 'वेदपाठी-भवन' बोलकर प्रसिद्धि पा चुका है, ऐसे सात्त्विक ब्राह्मण-कुलोत्पन्न मेरे गुरुदेव श्री सीताराम जी चतुर्वेदी की प्रेरणा एवं अनवरत परिश्रम का परिणाम ही प्रस्तुत संग्रह है । इसमें मेरे समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों का संग्रह है. जिसे प्राचीन साहित्य के समुन्नयनार्थ सतत प्रयत्नशील संस्था अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी ने प्रकाशित किया है । अतः ये दोनों ही समग्र रूप से मेरे साधुवाद के पात्र हैं ।

६ ए, आउट्रम स्ट्रीट,
कलकत्ता—१७

शान्तिस्वरूप गुप्त

प्रस्तावना

श्री शान्तिस्वरूप गुप्त विलक्षण प्रतिभाशील व्यक्ति हैं। अपने व्यस्त व्यावसायिक जीवनमें भी स्वाध्याय और मननके लिये समय निकालकर वे निरन्तर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें अपने परिष्कृत विचार अभिव्यक्त करते रहे हैं। उनके व्यवस्थित लेखन-प्रयासका प्रथम दर्शन उनके 'चिन्तन और चंक्रमण' नामक ग्रन्थमें हो चुका है जिसकी व्यापक प्रशंसा और कीर्ति हुई है।

इस ग्रन्थमें गुप्तजीने कुछ दार्शनिक प्रश्नों, समस्याओं और तत्त्वोंका विवेचन किया है और अत्यन्त नवीन वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और तर्कसंगत ढंगसे समाधान करने और व्याख्या करनेका श्लाघ्य प्रयास किया है। कठोपनिषत्में यम और नचिकेताके साक्षात्कार और नचिकेताकी सात्त्विक निष्ठाका बड़ा महत्त्व माना गया है क्योंकि नचिकेताने समस्त सांसारिक वैभवके प्रलोभनोंको ठुकराकर उस परम तत्त्वकी ही जिज्ञासा की जिसे जान लेनेपर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। इसी प्रकार देवताके स्वरूप, दया, दान और दमके महत्त्व और योग-साधनाके महत्त्वपर इनके विचार निश्चय ही गंभीर चिन्तन और व्यवस्थित मननके परिणाम हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी गीताके लिये तो प्रसिद्ध हैं ही किन्तु उनके पुरुषार्थका वास्तविक कारण क्या था इसपर संभवतः पहली बार ही नवीन पक्षसे विचार किया गया है। यक्ष और युधिष्ठिर-संवाद भारतीय चरित्रकी अक्षय्य उदात्त गाथा है जिसमें युधिष्ठिरके उत्तरसे तृप्त हो चुकनेपर जब यक्षने पूछा कि अपने भाइयोंमेंसे किसी एकको जीवित करा सकते हो तब युधिष्ठिरने सात्त्विक भावसे कहा—'नकुल!' यह सात्त्विक उदारता और विशाल-हृदयता हमारे भारतीय आचारकी सर्वोदात्त भूमिका है।

साहित्यकी कुछ समस्याओंपर भी गुप्तजीने गंभीर विचार किया है। महाकवि देवकी काव्य-प्रतिभा, व्युत्पत्ति, जीवन-चर्याके सम्बन्धमें अभीतक प्रामाणिक विवरणका अभाव था यहाँतक कि कुछ लेखकोंने तो यह लिख मारा था कि वे संस्कृतसे अनभिज्ञ थे किन्तु गुप्तजीने सप्रमाण यह निरूपित करनेका प्रशंसनीय प्रयास किया है कि वे

संस्कृतके पण्डित थे और उन्होंने हिन्दीके छन्दोंमें भी संस्कृत पद्योंकी रचना की थी। साथ ही देवके अनेक काव्य-ग्रन्थोंसे उद्धरण दे देकर यह भी बताया गया है कि उन्होंने किन ग्रन्थोंकी रचना की थी।

इस ग्रन्थमें गुप्तजीका महत्त्वपूर्ण लेख उर्दू-हिन्दीके विवादके सम्बन्धमें है जिसमें गुप्तजीने तथ्य, तर्क और प्रमाणके साथ सिद्ध किया है कि ये दोनों भाषाएँ वास्तवमें मूलतः एक हैं, जिन्हें दुराग्रहियोंने उसका मूल स्वरूप बिगाड़कर उसे दो रूप दे दिए हैं।

इतिहास-खंडमें महर्षि स्वामी दयानन्दके जीवन-चरितके अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है वैश्य जातिका प्रामाणिक इतिहास जो निश्चय ही अत्यन्त शोधपूर्ण है और वैश्य जातिके इतिहासको नई दिशा प्रदान करनेवाला है।

इस दृष्टिसे गुप्तजीका यह ग्रन्थ अपने आपमें नवीन, शोधपरक, विचारोत्तेजक तथा वैज्ञानिक समाधानसे सम्पन्न महत्त्वपूर्ण कृति है।

गुप्तजीको मैं हृदयसे बधाई देता हूँ और हिन्दी साहित्यमें इस ग्रन्थका अभिनन्दन करते हुए विश्वास करता हूँ कि उनका यह प्रयास निरन्तर चलता रहेगा।

काशी
देवोत्थान्या एकादशी,
कार्त्तिक शुक्ला ११, सं० २०३४

सीताराम चतुर्वेदी

समर्पण

परम वैदिक स्वर्गस्थ पिता श्री सुन्दरलालजी गुप्त

के

परम पावन चरणों में

'दर्शन, साहित्य और इतिहास'

हार्दिक श्रद्धा के साथ

समर्पित

लेखक के पूज्य पिता

श्री सुन्दरलालजी गुप्त
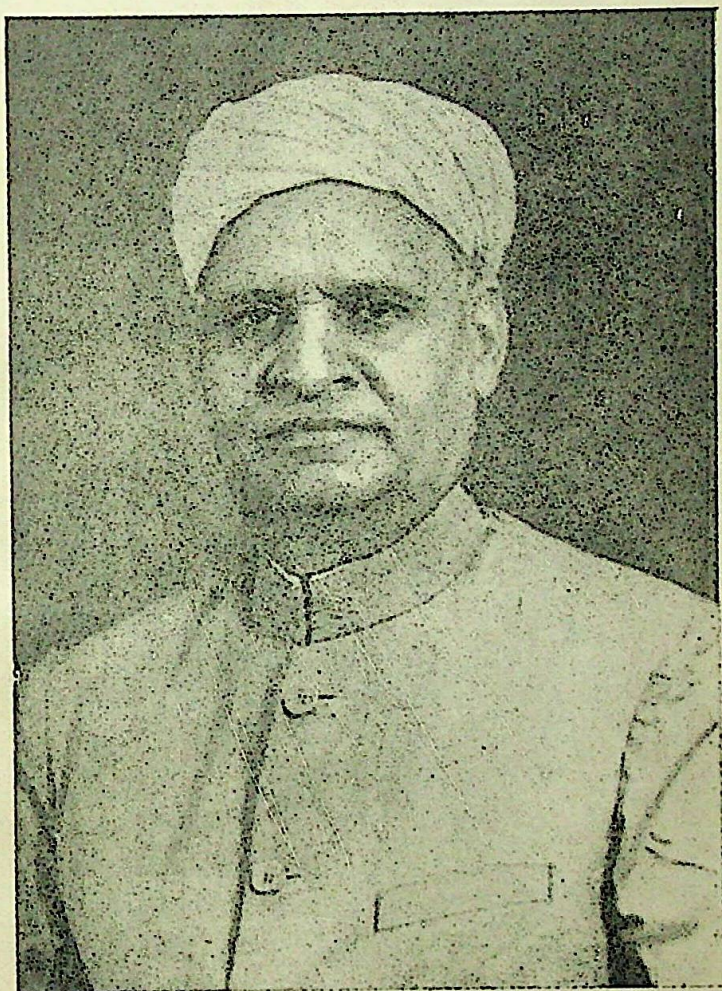
श्रतावेका निष्ठा गहनमनने संततरुचिः
स्थितो नित्यं शश्वद्विभुभजनभावे हि नितराम्।
प्रकृत्या वैराग्यं वहति सुतरामीशभजद्
गतो हि स्वर्लोके समुदविलसच्छास्त्रजलधौ॥

तत्त्वमसि

प्राचीन काल में महर्षि उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु वेदाध्ययन समाप्त करके गुरुकुल से वापिस लौटने पर बड़ा उद्धत एवं अभिमानी हो गया। अपने पुत्र को इस प्रकार विनम्रता-रहित देखकर पिता को अत्यन्त कष्ट हुआ। वेदवेत्ता होने के उसके अभिमान को दूर करने के लिए ऋषि ने अपने पुत्र उद्दालक से प्रश्न किया—'सौम्य ! क्या तुम्हारे गुरु ने तुम्हें वह विद्या भी सिखाई है जिसके द्वारा बिना देखे देखा जा सके, बिना सुने सुना जा सके, एवं बिना जाने जाना जा सके !' श्वेतकेतु बोला—'भगवन् ! यह सब कैसे होता है ? मैंने तो यह नहीं सीखा। मेरे गुरु को भी इस विद्या का ज्ञान नहीं था अन्यथा वे मुझे अवश्य सिखाते। अब कृपया आप ही इस विद्या का ज्ञान मुझे करा दीजिए।' महर्षि उद्दालक ने भिन्न-भिन्न नौ दृष्टांत देकर उसे यह विषय समझा दिया।

'सौम्य ! मिट्टी तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर तन्निर्मित घर, शराव (सराई) आदि प्रत्येक मृत्तिका-निर्मित वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मृत्तिका सत्य है एवं घट, शराव आदि उस मिट्टी के विकार मात्र हैं। अथवा सुवर्ण धातु का ज्ञान हो जाने पर उसके सब आभूषणादि विकारों का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है। अतः कारण का ज्ञान होने से उसके समस्त कार्यों का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है। यहाँ महर्षि उद्दालक ने परमात्मा को सर्वोपरि कारण बतलाने के लिये भिन्न-भिन्न उदाहरण देकर श्वेतकेतु को यह समझाने का प्रयत्न किया कि सर्वोपरि परमात्मा का ज्ञान हो जाने से संसार

के अन्य सब पदार्थों का ज्ञान मनुष्य को स्वतः ही हो जाता है। विस्तारपूर्वक समझाने के लिए उद्दालक पुनः बोले—'देखो सौम्य! सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्म ही था। यह नाम-रूपात्मक सृष्टि की उत्पत्ति उसके पश्चात् हुई। वह ब्रह्म सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य एक मात्र अद्वितीय था। उस परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं एक रूप हूँ—बहु रूपवाला हो जाऊँ।

"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"—छां० ६।२

ऐसा संकल्प करके सर्वप्रथम उसने तैजस पदार्थों की रचना की। उसके अनन्तर उसने जल एवं तदनन्तर पृथ्वी को उत्पन्न किया। इन तीन तत्त्वों का कथन अन्य तत्त्वों का उपलक्षण है। यथा—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः।
वायोरग्नि अग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी। —तैत्तिरीय०—२-१-३

यहाँ सूक्ष्म तत्त्व होने के कारण आकाश और वायु की उत्पत्ति का वर्णन किया। यहाँ तेज आदि की इच्छा करना उपचार मात्र है, मुख्य नहीं। इच्छा तो यहाँ ब्रह्म में ही हुई।

यहाँ स्वभावतया तेज से जल की उत्पत्ति होती है—जल से (पृथ्वी) अर्थात् अन्न की उत्पत्ति हुई। वर्षा से ही अन्न उत्पन्न होता है और वह ही जीवों का भक्ष्य है।

"तत अन्नाद्य अधिजायते"

इन भूतों से तीन प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई—"तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि" अण्डज, जीवज, उद्भिज्ज। यहाँ अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी आदि 'अण्डज', शरीर से उत्पन्न होने वाले मनुष्यादि 'जीवज', एवं पृथ्वी को भेदकर अन्दर से निकलने वाले वनस्पति आदि 'उद्भिज्ज'। यहां दिखाया गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति इन तीन प्रकारों से हुई है। उस परमात्म देव ने पुनः संकल्प किया कि इन तीनों भूतों में जीवात्मा का प्रवेश कराकर अनेक नाम-रूपों का

विस्तार करूँ। "अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"। अतः उसने सर्वप्रथम अग्नि, जल, पृथ्वी इन तीनों भूतों को दो-दो भागों में पृथक् किया, यथा, जल के प्रथम दो भाग करके एक भाग के दो खण्ड करके दूसरे दो-दो में मिला दिये। इसी प्रकार उन दोनों के भी प्रथम एक-एक के दो-दो भाग करके फिर एक के दो-दो खण्ड करके अपने से अन्य तत्त्वों में मिलाकर 'त्रिवृत्करण' कर दिया। अग्नि में जो रक्त रूप है वह तेज का, जो शुक्ल है वह जल का एवं जो कृष्ण रूप है वह पृथ्वी का है। इसी प्रकार आदित्य का रक्त रूप तेज का, शुक्ल जल का एवं कृष्ण रूप पृथ्वी का है। इसी प्रकार चन्द्रमा विद्युत् आदि में भी है। यहाँ अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् इनका स्वयं का रूप चला गया। आदित्य का आदित्यपन, चन्द्रमा का चन्द्रमापन आदि विकार सब वाणी के आरम्भ मात्र हैं। वास्तव में तीन ही रूप सत्य हैं।

"विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्"

पुराकाल में ऋषियों ने इसी विज्ञान से बिना देखे देखा, बिना सुने सुना एवं बिना जाने जाना था।'

श्वेतकेतु बोला—'भगवन्! इस त्रिवृत्करण विज्ञान को मैं आपसे सविस्तर सुनना चाहता हूँ। खाद्यान्न किस प्रकार तीन भागों में विभक्त हो जाता है?' ऋषि ने कहा—'अन्न का जो स्थूल भाग है वह पुरीष, जो मध्य भाग है वह मांस और जो सूक्ष्म भाग है वह मन हो जाता है। "अन्नं वै मनः"। इसी प्रकार पीत जल तीन भागों में विभक्त होकर स्थूल भाग मूत्र, मध्य भाग रुधिर एवं सूक्ष्म भाग प्राण हो जाता है। इसी प्रकार तैजस पदार्थ घृत तैलादि भी तीन भागों में विभक्त होकर उनका स्थूल भाग अस्थि, मध्य भाग मज्जा एवं अणुतम भाग वाक् हो जाता है। योऽणिष्ठः सा वाक्। इसीलिये मन अन्न-प्रधान, प्राण जलमय एवं वाणी तेजोमय है।'

श्वेतकेतु को इतने से संतोष नहीं हुआ। वह प्रार्थना करने लगा—'भगवन् ! इस विषय को आप और विस्तार से समझाइये।'

ऋषि बोले—'सौम्य ! जिस प्रकार दधि का मंथन करने से उसका सार भाग नवनीत ऊपर उठ आता है, उसी प्रकार अन्न का अणु भाग उठ कर मन, जल का अणु भाग प्राण एवं तैजस पदार्थों का अणु भाग वाणी हो जाता है।'

अब व्यावहारिक रूप से ऋषि उसे समझाने लगे कि अन्न का मन से क्या संबंध है—'देखो सौम्य ! तुम पन्द्रह दिनों तक भोजन न करके केवल यथेष्ट जल पीते रहो। इससे प्राणान्त तो होगा नहीं।' पिता के कथनानुसार श्वेतकेतु पन्द्रह दिनों तक अनाहार रह गया। सोलहवें दिन जब पिता के पास आया तो वे बोले कि तुम ऋग्वेद-यजुर्वेद आदि सुनाओ। श्वेतकेतु बोला—'भगवन् ! मुझे कुछ भी स्मरण नहीं आ रहा है।' ऋषि ने कहा—'अन्न न खाने से मन की गति क्षीण होने के कारण तुम्हें सब कुछ विस्मरण हो गया है ? जाओ जाकर भोजन करो।' भोजन करने के पश्चात् जब वह पुनः पिता के पास उपस्थित हुआ तो उसे सब कुछ पुनः स्मरण हो आया। तब ऋषि ने समझाया—'सौम्य ! अब तुम समझ गये होगे कि मन अन्नमय है, प्राण जलमय एवं वाणी तेजोमय है। सौम्य ! इस आत्मा की सूक्ष्मता से ही पुरुष सब विद्याएँ प्राप्त करता है और इसी के सहारे नित्य-नैमैत्तिक सभी कार्य सम्पादित करता है। मनुष्य-जन्म के फल-चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को भी मनुष्य इस आतमा के सहारे ही प्राप्त कर पाता है। अतः, सौम्य ! जाकर इस आत्मा के अस्तित्व को जानने का प्रयत्न करो।'

फिर ऋषि ने प्रकारान्तरसे जीवात्मा के अस्तित्व का ज्ञान श्वेतकेतु को दिया। सुषुप्ति अवस्था में अनजान से जीव और ब्रह्म का साथ रहा करता है अतः ऋषि ने भी इस विषय का प्रारम्भ सुषुप्ति अवस्था से ही किया क्योंकि इस अवस्था में जीव अपने स्वरूप में

स्थित रहता है। (स्वं अपीतः भवति) 'जिस प्रकार सूत्र में आबद्ध पक्षी सब ओर से उड़कर पुनः अपने स्थान पर वापिस लौट आता है, उसी प्रकार मनुष्य का मन भी सर्वत्र गमन करके अन्य स्थान न पाकर वापिस शरीर में ही लौट आता है क्योंकि मन तो प्राण के अधीन होता है।

जो तीन तत्त्व तेज, जल एवं अन्न हैं, इनका भी, सत्ता रूप से, मूल एकमात्र सत् ही है। सत् ही इस प्रजा की प्रतिष्ठा है। अतः, इनका लय भी सूक्ष्म रूप से ब्रह्म में ही होता है। मृत्यु के समय इसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में एवं तेज उस परब्रह्म में लय हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो अणु रूप शेष रह जाता है—वह आत्मा है। "एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं"—इस आत्मा का पूर्वोक्त भाव सब सत्य है। श्वेतकेतु! 'स आत्मा'—वही आत्मा है और वह 'तत्त्वमसि' वह आत्मा तू है।' 'तत्त्वमसि' पद से आत्मा के नित्यत्व का उपदेश किया गया है। यहाँ महर्षि उद्दालक ने मधु-मक्खी का उदाहरण देकर समझाया है कि 'जिस प्रकार मधुमक्खी भिन्न-भिन्न फूलों का रस लेकर मधु तैयार करती है, लेकिन मधु बनने से उसके मूल फूल का ज्ञान लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म के साथ जीव का संबंध हो जाने पर भी यह ज्ञान नहीं रह जाता कि परम पिता के साथ हमारा क्या संबंध है। जीव अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म जा लेता है। उन सब में वही आत्मा विद्यमान है। श्वेतकेतु! और वही तू है। देखो श्वेतकेतु! जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियाँ बहती हुई समुद्र से मिलकर उसमें विलीन हो जाती हैं और उसके पश्चात् समुद्र का जल बाष्प बनकर आकाश में जाकर वर्षा-द्वारा पुनः पृथ्वी पर आ बरसता है, लेकिन उसका यह पता नहीं होता कि यह कौन सी नदी का जल है, इसी प्रकार सौम्य! प्रलय के पश्चात् जब यह प्रजा नवीन देह धारण करके पुनर्जन्म लेती है तब उनको यह ज्ञान नहीं रहता कि इससे पूर्व हम कौन सी देह में थे।

'देखो सौम्य ! जिस प्रकार वृक्ष की शाखा काटने से उसमें से जीव निकल जाने पर शाखा सूख जाती है और जब समस्त वृक्ष में से जीव निकल जाता है तब सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है, इसी प्रकार मनुष्य-शरीर में से भी प्राण निकलने पर देह तो मर जाती है पर जीव नहीं मरता। वही न मरनेवाला अविनाशी जीव तू है।' 'स आत्मा तत्त्वमसि।" इस प्रकार जब चार उदाहरणों से भी श्वेतकेतु 'तत्त्वमसि' के भाव अर्थात् जीवात्मा की सूक्ष्मता को नहीं समझ पाया तब महर्षि उद्दालक ने न्यग्रोध (बड़) का बीज मँगवाकर उसे समझाया कि 'जिस प्रकार इस छोटे से बीज में न्यग्रोध का महान् वृक्ष समाया हुआ है, इसी प्रकार मनुष्य के भीतर भी वह सूक्ष्म जीवात्मा है जिसे तुम नहीं देख सकते, लेकिन वह जीवात्मा तू है। "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।" लवण-पिण्ड (नमक की डली) जल में घोल देने से लवण-पिण्ड तो दृष्टिगोचर नहीं होता लेकिन चखने से लवण का ज्ञान तत्काल हो जाता है। अतः सौम्य ! जिस प्रकार सूक्ष्म रूप से जल में मिला हुआ लवण प्रतीत नहीं होता इसी प्रकार शरीर में शरीर के साथ जीवात्मा गृहीत न होकर सत्ता से गृहीत होता है। उसकी सत्ता तीनों कालों में सद्रूप है और वह आत्मा तू है।' आगे अन्य उदाहरण देकर उन्होंने बताया कि 'जिस प्रकार गांधार देश से आँखों में पट्टी बाँधकर जंगल में छोड़ा गया मनुष्य बिना मार्ग-दर्शक के निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच पा सकता उसी प्रकार अदृष्ट से बँधा हुआ पुरुष इस शरीर-रूपी पुर में आकर अपने पूर्व रूप को गुरु के उपदेश के बिना जानने में समर्थ नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से उद्दालक ने बतलाया कि—'देखो श्वेतकेतो ! बिना सद्गुरु की सहायता के जीवात्मा अपने यथार्थ रूप को जानने में समर्थ नहीं है। अनादि सिद्ध शरीरादि के साथ मिलकर अपने अविनाशी-पन को भूले हुए जीवों को अपने असली स्वरूप जानने के लिये ही यह "तत्त्वमसि" का उपदेश है।'

फिर अन्य दृष्टांत-द्वारा उन्होंने बताया कि 'जिस प्रकार बीमार मुमूर्षु पुरुष के चारों ओर उसके सगे-संबंधी बैठकर पूछते हैं कि क्या तुम मुझे पहचानते हो तो जब तक उस रुग्ण पुरुष की वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में एवं तेज उस ब्रह्म में लीन नहीं हो जाता तब तक वह सबको पहचानता है। लीन होने के पश्चात् वह किसी को नहीं पहचान पाता। वह जो उसका सूक्ष्म स्वरूप है वह जीवात्मा है और श्वेतकेतो ! वह तू है।' चोर का एक दृष्टान्त देकर उद्दालक बोले—'जिस प्रकार चोर की परीक्षा के लिये राजा, परशु तप्त करके पकड़ने को कहता है और चोरी करने वाला उसे पकड़ कर जल जाता है और नहीं करनेवाला सत्य के बल पर न जलकर मुक्त हो जाता है—स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते। (यहाँ तप्त परशु का दृष्टांत सत्याभिसन्ध के लिये मोक्ष, और अनृताभिसन्ध के लिये 'बन्ध' की प्राप्ति का हेतु है)। उसी प्रकार जो जीवात्मा अपने शरीर में आसक्त रहते हैं वे बंधन को प्राप्त होते हैं—एवं "जो न जायते म्रियते कदाचित्" का सिद्धान्त माननेवाले हैं वे संसार के बंधन से छूटकर मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं।' इस प्रकार महर्षि उद्दालक ने नौ दृष्टांतों के द्वारा श्वेतकेतु को जीवात्मा के स्वरूप का बोध करा दिया। इतना सुनकर श्वेतकेतु बोला—'भगवन् ! अस्य इति तत् विजिज्ञौ इति। इस विज्ञान को मैं अब भली भाँति जान गया।'

आत्मज्ञान

शिष्य गुरु से प्रश्न करता है--

'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः ? अर्थात् यह मन किसकी प्रेरणा से लुभानेवाली वस्तुओं की ओर आकृष्ट होता है ?'

गुरु उत्तर देता है—'मन जड वस्तु है। स्वयं स्वतंत्र रूप से यह कोई भी कार्य करने असमर्थ है। अगर यह स्वयं भी चिंतन करने में समर्थ होता तो भी एक ही प्रकार का चिंतन करता। यह किसी प्रेरक के प्रवृत्त करने से ही चिंतन करता है एवं उसी के सुख-दुःख की अवस्था के अनुकूल ही चिंतन करता है। अतः यह प्रेरक शक्ति ही आत्मा है। उसी की सत्ता से यह मन मनन करने में सक्षम होता है।

शिष्य दूसरा प्रश्न करता है--

'केन प्राणाः प्रथमः प्रैतियुक्तः।' [सर्वप्रथम गर्भ के भ्रूण में प्राण का संचार कैसे और कहाँ से हुआ ?]

गुरुने समझाया—'भ्रूण तो जड है, स्वयं कुछ भी क्रिया करने में असमर्थ है। इसके साथ जब प्राणका संयोग होता है तभी भ्रूण क्रमशः बढ़कर बालक का रूप धारण करता है। दूसरी ओर मृत्यु के पश्चात् सब प्राणयंत्रों के यथावत् संलग्न रहते हुए भी शरीर जडवत् होकर निश्चेष्ट हो जाता है क्योंकि उसमें से महाप्राण निकल जाते हैं। अतः इस प्राण-रूपी सूत्र का जो संचालन करता है वही आत्मा है और उसी की सत्ता से शरीर के सब व्यापार होते रहते हैं।'

शिष्य फिर गुरु से प्रश्न करता है--'भगवन् ! यह मन किसकी प्रेरणा से अपनी इष्ट वस्तु की ओर प्रवृत्त होता है ? किसकी शक्ति से यह प्राण शरीर में चलता रहता है ? किसकी प्रेरणा से वाणी वोलने का काम करती है ? और किसकी प्रेरणा से आँखें देखती एवं कान सुनते हैं ?'

गुरु उत्तर देते हैं—'इन सब इन्द्रियों को अपने अपने कार्य में प्रवृत्त करनेवाला आत्मा है। वही श्रोता, मन्ता एवं द्रष्टा है। इन्द्रियाँ केवल उसके साधन मात्र हैं। आत्मा चेतन ज्ञान-स्वरूप है। उसी की चेतन सत्ता और स्फूर्ति से प्रत्येक इन्द्रिय अपना अपना कार्य सम्पादन करती है। जो बुद्धिमान् पुरुष आत्मा के इस स्वरूप से अवगत हो जाते हैं वे मृत्यु के चंगुल से छूटकर अमर पद प्राप्त कर लेते हैं।'

आत्मा का वर्णन करने के पश्चात् गुरु ने ब्रह्म का निरूपण करते हुए बताया कि 'ब्रह्म तो इन्द्रियों से अगोचर तथा अगम्य है। वाणी उसका वर्णन करने में अशक्त है। ऐसे अवर्णनीय का कोई कैसे वर्णन कर पा सकता है ? यद्यपि यह सत्य है कि वाणी उसी की शक्ति से अपना काम सम्पादन करती है, उसी से वाणी प्रकाशित होती है। वह सृष्टि का कर्त्ता है। सारी सृष्टि उसकी इच्छा-शक्ति से कार्य-शील है। उसका स्वरूप वर्णनातीत है। वह तर्क से अगम्य है और यद्यपि मनोवृत्तियाँ उसी के नियंत्रण के अधीन हैं फिर भी मन ब्रह्म का पार नहीं पा सकता। वह मन से भी अचिन्त्य है। वह अशरीरी, निराकार एवं सब बंधनों से रहित है। वह ब्रह्म नेत्र-रहित है फिर भी नेत्र उसी की शक्ति से कार्य-रत हैं। वह कान से नहीं सुनता, लेकिन कानों का नियंता वही है। वह स्वयं प्राण वायु नहीं है फिर भी प्राण-वायु उसी के अधीन है। ब्रह्म अनन्त है, उसकी लीला भी अनन्त है। ऐसे अनन्त के संबंध में जो कहता है कि उसे मैं जानता हूँ वह अज्ञ है। उसी के प्रकाश से देव-मनुष्यादि सभी प्राणी प्रकाशित हैं। जो उसके ज्ञान का अभिमान करता है वह

अज्ञानी अहंकार करता है। ब्रह्म है, और वह अनन्त शक्तिशाली है, इतना ही मानना पर्याप्त है। ज्ञानाभिमानी मनुष्य उसे नहीं जानते। जो उस अनन्त शक्तिशाली की सत्ता को स्वीकार करते हैं वे ही वास्तव में उसे जानते हैं। उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये सतत मनन की आवश्यकता है। जो इस प्रकार आत्म से शक्ति लाभ करके उसका सतत मनन एवं चिंतन करता है वह निश्चय ही अमृत पद का अधिकारी हो जाता है।

इसी जीवन में सतत मनन और निदिध्यासन के द्वारा उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि अन्य जन्म का भरोसा क्या? मनुष्य-जन्म मिले न मिले। अतः विद्वान् लोग इसी साधन-धाम मानव-जन्म में सतत चिंतन करके उसे जान लेते हैं और जो उसे जान जाता है वह इस लोक से छूट कर मुक हो जाता है।

ज्ञान - सर्वस्व

प्राचीन काल में महर्षि अंगिरस् के पास शौनक नाम के एक श्रद्धालु जिज्ञासु आकर बोले—'भगवन्! वह कौन सी वस्तु है जिस एक के जानने से सब कुछ जाना जा सकता है?'

महर्षि कहने लगे--'संसार में दो प्रकार की विद्याएँ हैं--एक अपरा (लौकिक), दूसरी परा (अलौकिक)। चारों वेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छंद और ज्योतिष, ये अपरा विद्या के अंतर्गत आते हैं। जिस विद्या के द्वारा उस अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है वह परा है। वह ब्रह्म आकार-रहित है। अतः वह न तो देखा जा सकता है न उसका स्पर्श ही संभव है। वह नित्य है, सर्वव्यापक है, एवं सर्व भूतों का आदि कारण है। जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) जाला बुनकर पुनः उसे अपने भीतर समेट लेती है, उसी प्रकार उस अविनाशी ब्रह्म से यह सारी सृष्टि प्रकट होकर प्रलय काल में उसी में तिरोहित हो जाती है। यह सारा जगत् उसके चिंतन मात्र से आकार धारण कर लेता है। उसके पश्चात् अन्न, प्राण, मन, सत्य, पुण्य कर्म एवं उत्पत्ति और अमरत्व आदि एक उसी से विकसित होते हैं। उस सर्वज्ञ, सर्वविद् और क्रिया ही जिसका ज्ञान है उस ब्रह्म से यह भिन्न-भिन्न नाम-रूपवाली सृष्टि उत्पन्न हुई है। जो कर्मकाण्डी मनुष्य होते हैं वे दिव्य लोकों में जाकर अपने पुण्य-कर्मों के फल भोगते हैं। जो गृहस्थ दर्श (अमावास्या का याग), पौर्णमास (पूर्णिमा को किया जाने वाला यज्ञ), चातुर्मास्य तथा आग्रयण (शरद् आदि में किए जाने वाले) अग्नि-होत्र नहीं करता, जो आगत विद्वान् अतिथियों

का भोजनादि-द्वारा सत्कार नहीं करता, जो बलिवैश्वदेव यज्ञ (प्राणियों के लिये किया जाने वाला नित्य का यज्ञ) नहीं करता वह स्वयं अपने ही हाथों अपने सुखमय भविष्य को नष्ट कर डालता है। यज्ञ में यथार्थ रीति से प्रज्वलित अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ सूर्य की किरणों द्वारा वायु-मण्डल में जाकर मेघ उत्पन्न करती हैं और उससे नाना प्रकार की वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। प्राणि-मात्र-द्वारा खाई हुई ये वनस्पतियाँ वीर्य उत्पन्न करती हैं। यह वीर्य मातृ-गर्भ में जाकर असंख्य प्राणिधारियों की उत्पत्ति करता है। इस प्रकार यज्ञ-कर्त्ता को उसके पुण्य कर्मों का फल तत्काल प्राप्त हो जाता है। लेकिन इस प्रकार के आचरण से प्राप्त भोग अपकृष्ट एवं नश्वर हैं। नश्वर भोगों में आसक्त होकर आनन्द की उपलब्धि करनेवाले मूढ पुनः पुनः जन्म-जरा-मृत्यु के चक्कर में फँसकर दुःख भोगते रहते हैं। कुछ ऐसे भी अविद्या-ग्रस्त मूढ जन हैं जो अपने को ज्ञानी मानकर दूसरों का नेतृत्व करने चलते हैं और स्वयं अपने और दूसरे दोनों के लिये दुःख के कारण बन जाते हैं। कुछ इस प्रकार के अन्य मूढ भी हैं जो ऐसे सकाम कर्म करके ही मनुष्य-जीवन के उद्देश्य की इतिश्री मान लेते हैं। अतः वे मनुष्य, ईश्वरीय ज्ञान से वञ्चित रहकर दुःख के भागी बने रहते हैं। जो लोग सांसारिक सफलताओं को ही मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य मान लेते हैं ऐसे मूढ जन सब भोग भोगकर पुनः हीन अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

लेकिन इसके विपरीत शान्त प्रकृतिवाले जो मनुष्य धर्मानुसार जीवन व्यतीत करते, सत्यानुकूल आचरण करते, क्रोधादि मनोविकारों पर विजय प्राप्त करके भिक्षान्न से ही जीविका-निर्वाह करके संतोष कर लेते हैं, ऐसे विद्वान् पुरुष अपने सूक्ष्म शरीर से उस अविनाशी परमात्मा को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। विद्वान् पुरुष सांसारिक भोगों को कर्म का फल मात्र मानकर उनमें आसक्त नहीं होते। अतः मनुष्य को ऐसी मोह-माया से पृथक् होकर ब्रह्मनिष्ठ

गुरु की शरण में पहुँच जाना चाहिये जो उन्हें सनातन सत्ता का ज्ञान प्राप्त कराने वाली ब्रह्म-विद्या का ज्ञान प्रदान कर सके।

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से सहस्त्रों स्फुलिंग निकलते और बुझते रहते हैं, उसी प्रकार उस अविनाशी प्रभु से भी असंख्य सौम्य भाव निकल निकल कर उसी में विलीन होते रहते हैं। वह अविनाशी पुरुष अशरीरी, सर्वव्यापक, अजन्मा, मन प्राण-रहित, शुद्ध-बुद्ध, एवं मनुष्य के आत्मा से भी अधिक सूक्ष्म है। उसी से मन, प्राण, इन्द्रियाँ, तत्त्व, आकाश, वाष्प एवं सब प्रकार के अन्य पोषक तत्त्व निःसृत होते रहते हैं। अग्नि ही उस सर्व-भूतान्तरात्मा का मस्तिष्क, सूर्य और चन्द्रमा ही दोनों नेत्र, दिशाएँ ही कान, वेद वाचा ही इन्द्रिय, वायु-मण्डल ही फुफ्फुस, समस्त विश्व ही हृदय एवं पृथ्वी ही पाद स्थानीय है। उस विराट् से एक शक्ति-पुञ्ज निःसृत होता है जिसका ईंधन सूर्य्य है, जो अपनी रश्मियों से तरल पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट करके उस वाष्प–समूह को मेघ के रूप गें बरसाकर अन्न की उत्पत्ति करता है। वेद, यज्ञ, यजमान एवं सूर्य-चन्द्रमा को अपने-अपने गति-पथपर स्थित रखनेवाला अंतरिक्ष सब उसी परमात्मा से निःसृत होते हैं। विद्वान्, चतुर, साधारण मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, खाद्य सामग्री, प्राणभूत वायु आदि सब पदार्थ उसी से उत्पन्न होते हैं। सत्य, तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य, विधि, निषेध आदि सब उसी की देन हैं। उसी से प्राण, अर्चि (किरण), विषयों का ज्ञान, इन्द्रिय, करण, जिसमें प्राण कार्य-रत रहते हैं, सब उसी प्रभु के द्वारा स्थापित हैं। समुद्र, पर्वत-शृङ्खलाएँ, वक्र गति से बहनेवाली नदियाँ, वनस्पति एवं सब रस वही धारण किए हुए है। मनुष्यों की क्रियाएँ, वेदों का ज्ञान, तप, अमरत्व एवं समस्त विश्व उसी में निवास करता है।

जो साधक अपने हृदय में ऐसे परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है वह अविद्या की ग्रन्थियों का भेदन करके आवागमन के बंधन से मुक्त हो जाता है।

यथार्थ में वह परमात्मा सदा सर्वदा हमारे सन्निकट विद्यमान है। वह सब भूतों में प्रकट, बुद्धि में व्यापक एवं समस्त प्राणियों का महान् आश्रय है। उसी की शक्ति से संसार के समस्त प्राणी साँस लेते, कर्म करते और जीवित रहते हैं। वह स्वयं अदृश्य एवं साधारण मनुष्यों-द्वारा अविज्ञात है। वह परमाणुओं से भी सूक्ष्मतर, तेजोमय, समस्त लोक धारण करके उनका पालन-पोषण करनेवाला, मन वाणी का तत्त्व, सबका प्राण-स्वरूप, सत्य, नित्य एवं अविनाशी है। जो उपनिषदोक्त-ज्ञान-रूपी धनुष पर उपासना-रूपी तीक्ष्ण बाण का संधान करके मुक्ति-रूपी शक्ति से लक्ष्य-भेद करता है वह अविनाशी प्रभु का लक्ष्य-भेद करने में सफल हो जाता है। परमात्मा के सर्वश्रेष्ठ नाम 'ओम्'-रूपी धनुष पर आत्मा का तीर चढ़ाकर ब्रह्म-रूपी लक्ष्य का संधान करने पर लक्ष्य-भेद में निश्चित सफलता प्राप्त होती है। जिसने सूर्य, पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं समस्त सौर मण्डल को आंतरिक एवं अदृश्य रीति से अपने में धारण कर रक्खा है, जो प्राण, मस्तिष्क, फुफ्फुस एवं विविध इन्द्रियों का पोषण-कर्त्ता है, उस अद्वितीय, सर्वान्तरात्मा परमात्मा को जानने का यत्न करो क्योंकि आवागमन का चक्र छुड़ाकर मुक्ति प्रदान करनेवाला यदि कोई है तो एक मात्र वही है।

जिस प्रकार पहिए के सब अरे उसकी नाभि में एक रहते हैं, उसी प्रकार मानव-हृदय में भी सभी रक्तवाहिनी शिराएँ आ मिलती हैं। इसी हृदय के अंतराल में शरीर पर शासन करनेवाला दिव्य अतरात्मा निवास करता है। ओम् के ध्यान में निमग्न होकर ही इस शासक आत्मा का दर्शन करके अविद्यारूपी अगाध समुद्र को पार करने पर विद्या-रूपी आनन्द-धाम में पहुँचा जा सकता है। जिस परमात्मा ने अपनी महिमा से पृथ्वी एवं आकाश को धारण कर रक्खा है वह हृदय-रूपी गुहा में ही बैठकर मन एवं प्राण पर नियंत्रण करता है। उसीको जानकर ही धीर पुरुष अमरत्व प्राप्त करके परमानंद प्राप्त करते हैं।

उस ज्योति-स्वरूप का साक्षात्कार होने पर ही हृदय-गत समस्त अविद्यान्धकार दूर हो पाता है, सारे संशय मिट जाते हैं और समस्त पाप-कर्मों से छुटकारा मिल जाता है। इस शुभ्र हृदय-रूपी गुहा में निवास करनेवाले को ही आत्मदर्शी लोग ज्योति-स्वरूप बताते हैं।

उस ज्योति-स्वरूप को सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रों का समूह, बिजली या भौतिक अग्नि कोई भी प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है, अपितु उसी एक की ज्योति से ही सब ज्योतिर्मय पदार्थ प्रकाशमान् और उद्भासित हो रहे हैं। वह ब्रह्म ऊपर, नीचे, दाएँ, बाएँ, आगे, पीछे इस समस्त विश्व के अंतराल में समाया हुआ है।

इसके आगे मुण्डकोपनिषद् में आत्मा-परमात्मा के संबंध का आलंकारिक ढंग से पक्षी की उपमा देकर वर्णन किया गया है। एक वृक्ष की डाल पर दो पक्षी (चेतन सत्ताएँ) विराजमान हैं। दोनों समान वयस और एक दूसरे के आलिंगन में आवद्ध हैं, मित्र हैं। दूसरे पर प्रथम का कोई प्रभाव नहीं है। एक बंधन में आबद्ध एवं दूसरा मुक्त है। अविद्या-ग्रस्त सांसारिक कामनाओं में आबद्ध जीव भी परमात्मा का दर्शन न कर सकने के कारण शोक-ग्रस्त रहता है। लेकिन इसके विपरीत जो उपासक उस जगन्नियंता और समस्त विद्याओं के आदिमूल परमेश्वर का साक्षात्कार कर लेता है वह सारे पाप-पुण्य के बंधनों से मुक्त होकर उस परम पिता से एकात्मता प्राप्त कर लेता है, वह आत्मिक आनन्द प्राप्त करके ब्रह्म-तेज से व्याप्त हो जाता है।

सत्य की सर्वदा विजय एवं असत्य की सदा पराजय होती है। इस सत्य मार्ग का अनुगमन केवल विद्वान् ही करते हैं और वे ही सत्य के असीम सागर को पार करके उस असीम का सान्निध्य प्राप्त करने में सक्षम होते हैं। कामना-वासना से रहित निर्मल बुद्धिवाले उपासक अपने अक्षुब्ध एवं स्थिर ज्ञान के द्वारा हृदय की पृष्ठ भूमि पर अवस्थित

अचिंतनीय, अद्भुत, मूल तत्त्वों से भी सूक्ष्मतर, सर्व भूतों से महान्, समीप से भी समीप, दूर से भी दूर रहनेवाले परम ब्रह्म को ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं।

यह सूक्ष्म आत्मा केवल बुद्धि से ही ग्राह्य है। चित्त के शुद्ध होने पर आत्मा अपनी निहित शक्तियों का अनुभव करने लगता है। ऐसे शुद्ध, शांत मनवाले उपासक की सारी कामनाएँ पूर्ण होने लगती हैं। वह जिन-जिन लोकों की कामना करता है, उन्हीं में जा पहुँचता है। उसे संसार का कोई संताप कष्ट नहीं पहुँचा सकता। इस प्रकार निष्काम भाव से उपासना करनेवाला उपासक उस संसार के आश्रय-भूत परम ब्रह्म को पूर्णतः जान लेता है, उसकी सारी कामनाएँ परितृप्त होकर इसी जन्म में लुप्त हो जाती हैं। इस प्रकार ज्ञान से परितृप्त, रोग-रहित, शान्त, स्थिर चित्त, निर्मल बुद्धियोगी उस परमात्मा के साथ एकता प्राप्त करके, मोक्ष-सुख भोग कर परान्तकाल[1] के पश्चात् पुनः जन्म ग्रहण कर लेता है। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में पड़कर अपना नाम, रूप, विशिष्टता सब खो देती हैं, इसी प्रकार मुक्त जीव भी इस दृश्य जगत् से पृथक् होकर उस ब्रह्म के साथ एक हो जाता है, अविद्या-ग्रन्थियों से विमुक्त होकर पाप-शोक से पृथक् होकर वह अमरत्व प्राप्त कर लेता है। किन्तु इस ब्रह्म-विद्या के अधिकारी वे ही होते हैं जो ब्रह्म-निष्ठ, वेदवेत्ता और क्रियात्मक योगी हैं।

---

१. परान्तकाल—३१,१०,४०,००,००,००,००० ३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष का होता है।

यम और नचिकेता

सत्ययुग में जब अधिकांश मनुष्य वेदानुकूल जीवन यापन करते थे, यज्ञ के माध्यम से ही प्रत्येक कार्य सम्पादित होते थे, सारा समाज शास्त्रोक्त वर्णाश्रम-धर्म का पालन करता था, ऐसे धर्म-प्रधान युग में महर्षि वाजश्रवा के पुत्र उद्दालक ने विश्वजित् नामक यज्ञ में अपनी सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों को दान में दे डाली। उस दान में प्रदत्त वस्तुओं में कुछ ऐसी गौवें भी थी जो न तो दुग्ध देने के योग्य थीं, न प्रजनन में समर्थ थीं, न सुचारु रूप से भोजन करने में सशक्त थीं।

दाता को उसी दान में देनेवाली वस्तुओं का पुण्य होता है जो ग्रहीता के सर्वथा उपयोग में आनेवाली हो। इसके विपरीत पदार्थों का दान देनेवालों को तो ऐसे लोकों की प्राप्ति होती है जो सर्वथा आनन्द से शून्य होती हैं।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्।

पिता उद्दालक के हित की कामना करनेवाला उसका पुत्र नचिकेता विचार करने लगा कि इस प्रकार की क्षीणकाय गौओं के दान से तो मेरे पिता को स्वर्ग के विपरीत ऐसे लोकों की प्राप्ति होगी जो सर्वथा आनन्द से शून्य हैं। ऐश्वर्य-प्राप्ति की कामना करनेवालों को तो अपनी सबसे प्रिय वस्तु का दान करना चाहिए। पिता की सबसे प्रिय वस्तु तो उसका पुत्र होता है। अतः, अयोग्य दान के कारण नरक-प्राप्ति से अपने पिता की रक्षा करने के लिए, क्यों न मैं ही उन्हें अपना दान करने का परामर्श देकर उन्हें आनन्द लोकों की प्राप्ति कराऊँ। इस

उदात्त भावना से प्रेरित होकर नचिकेता अपने पिता से पूछने लगा—'मुझे किसके लिये दान में दीजियेगा ?' इसके उत्तर में दो बार तो पिता चुप रहे लेकिन तीसरी बार यही बात पूछने पर पिता ने झल्ला कर कहा—

'मृत्यवे त्वा ददामीति'

[तुझे मृत्यु के लिए देता हूँ]। आज्ञाकारी नचिकेता पिता की आज्ञा सुनकर यमलोक जाने को तत्पर हो गया। इस प्रकार पुत्र को यमलोक जाते देख कर उद्दालक को अपने कार्य पर पश्चात्ताप होने लगा। पिता को पश्चात्ताप की अग्नि में दग्ध होते देखकर नचिकेता पुनः पिता से कहने लगा—हे पिताजी ! जिस प्रकार अन्न पककर अपने मूल से छूट जाता है, उसी प्रकार समय पाकर मनुष्य भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। प्राणिमात्र में कोई भी इसका अपवाद नहीं है। अतः आप शोक छोड़कर सत्य का पालन करिये और मुझे प्रसन्नतापूर्वक यमराज के यहाँ जाने की अनुमति प्रदान कीजिए। अनिच्छा होते हुए भी ऋषि ने विवश होकर पुत्र को यम के यहाँ जाने का आदेश दे दिया।

नचिकेता आचार्य वैवस्वत के घर जाकर यम को घर में न पाकर तीन रात्रि अन्न-जल के बिना उनकी प्रतीक्षा करता रह गया। चौथे दिन घर लौट कर अग्नि के समान पूज्य अतिथि को तीन दिन निराहार द्वारपर बैठे देखकर यम भयभीत हो उठे। शास्त्रानुसार यदि गृहस्थ के द्वार से कोई अतिथि अनाहार लौट जाता है तो वह अपने साथ अपना सारा पाप देकर उसका समस्त पुण्य अपने साथ ले जाता है।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

इस अनिष्ट का विचार करके धर्म-भीरु वैवस्वत तुरन्त अर्घ्य, पाद्य आदि-द्वारा नचिकेता के अतिथि-सत्कार में लग गए। अतिथि के तीन दिन निराहार रहने के पातक से बचने के लिए यम ने नचिकेता से तीन मनोवांछित वर माँगने के लिये कहा—

यमराज की प्रार्थना सुनकर नचिकेता ने सर्वप्रथम अपने पिता की सुख-कामना के लिए पहला वर माँगा कि पिताजी क्रोध-रहित होकर पूर्ववत् प्रेमपूर्ण व्यवहार करें। 'तथास्तु' कहकर उस पितृभक्त बालक से यम ने दूसरा वर माँगने को कहा।

स्वार्थ की भावना से सर्वथा रहित नचिकेता सोचने लगा कि जिस स्वर्ग लोक में न भूख है न प्यास, न जरा है न मृत्यु, न शोकहै न मोह और सर्वदा मनुष्य आनन्द-विभोर हुआ रहता है उसकी प्राप्ति के साधन से मनुष्य अनभिज्ञ है। अतः क्यों न मैं उसी उपाय के जानने का दूसरा वर माँगू। अतः नचिकेता ने दूसरा वर साधनभूत योगाग्नि के संबंध में माँगा।

यम कहने लगे--'नचिकेता! स्वर्ग-प्राप्ति के साधनभूत अग्नि-यज्ञ को मैं भली प्रकार जानता हूँ। यह अग्नि चिरस्थायी जीवन का हेतु एवं समस्त संसार की स्थिति का साधन है। सूर्य अग्नि का महान् पुंज है, अतएव समस्त सौर मंडल सूर्य के चारों ओर परिक्रमा कर रहा है।' इसके पश्चात् यम ने यज्ञ की रचना, उसकी चयन-विधि तथा उसके लिये समस्त आवश्यक सामग्री आदि का सविस्तर विधान नचिकेता को बता दिया। कुशाग्र-बुद्धि नचिकेता ने तुरन्त उनके बताये हुये ज्ञान को दोहरा कर अपने अधिकारी होने का परिचय भी दे दिया। शिष्य की योग्यता से प्रसन्न होकर यमराज ने आशीर्वाद दिया की यह अग्नि-विद्या आज से लोक में तेरे नाम से ही प्रसिद्ध होगी।

इसके पश्चात् यमाचार्य ने नचिकेता को तीसरा वर माँगने के लिये कहा। यह तीसरा वर ही 'कठोपनिषद्' का सार एवं ब्रह्मज्ञान की कुंजी है। उसे भली प्रकार समझ लेने पर अमृत पद की प्राप्ति सहज हो जाती है।

तीसरा वर माँगने की बात सुनकर नचिकेता सोचने लगा कि स्वर्ग-सुख की प्राप्ति के जो साधन मैंने जाने हैं, वे तो समय पाकर

नष्ट हो जानेवाले हैं। अतः, वह पूछने लगा—'मरने के पश्चात् जीव की क्या गति होती है ? क्या पुनर्जन्म होता है ? होता है तो किसका और किन कारणों से ? कौन पुनर्जन्म कराता है ? कौन कर्मों का फल-प्रदाता है ? कौन पुनर्जन्म ग्रहण कराता है ? और उससे छुटकारा पाने का क्या साधन है ? आप मृत्यु के देवता हैं। आप से बढ़कर इस प्रश्न का उत्तर देनेवाला कौन हा सकता है ? अतः यही मेरा तीसरा वर है।'

इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले नचिकेता को संसार के सभी महान् प्रलोभन देकर यमाचार्य उसकी परीक्षा लेना चाहते थे कि अब भी सांसारिक ऐश्वर्यों में उसकी कोई आसक्ति तो शेष नहीं रह गई है।

अतः यमने कहा—'देखो नचिकेता ! यह प्रश्न बड़ा सूक्ष्म है। तुमसे पहले भी बड़े-बड़े विद्वानों ने उस पर विचार किया है और यह प्रश्न सरल भी नहीं है। अतः तुम इसको छोड़कर कोई अन्य वर माँग लो। तुम चाहो तो मैं तुम्हें चिरकाल तक जरा-जीर्ण व्याधि से रहित शरीर, मनुष्य लोक में सर्वथा अप्राप्य गाजे-बाजे आदि उपकरणों से युक्त सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ, सौ वर्ष से भी अधिक आयुवाले चिरंजोवी पुत्र-पौत्रादि, हाथी घोड़े, धन-धान्यादि-पूर्ण पृथ्वी का चक्रवर्ती साम्राज्य दे सकता हूँ। लेकिन मृत्यु के पश्चात् होनेवाली अवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न मत करो।'

नचिकेता बारम्बार मृत्यु के पश्चात् जीवन की क्या अवस्था होती है इसी प्रश्न का उत्तर पाने को प्रार्थना करता रहा।

इस प्रकार उसके तीव्र वैराग्य को देखकर और नचिकेता को ब्रह्मविद्या का पूर्ण अधिकारी समझकर यम उसको इस प्रकार उपदेश देने लगे—'देखो नचिकेता ! संसार में दो प्रकार के कर्म हैं—एक श्रेयस् दूसरा प्रेयस्। एक जप, तप, संयम, आराधना एवं शक्ति का मार्ग है जिसे सम्पादन करना तो अत्यन्त कठिन लेकिन जिसका फल बहुत

मीठा होता है। दूसरा प्रेयस् प्रलोभनों से भरपूर है जो मनुष्य को लक्ष्य-भ्रष्ट करके भयंकर नरक में ठेल देता है। ज्ञानशील विवेकीजन तो श्रेय का मार्ग और अविवेकी मूर्ख लोग प्रेय का मार्ग चुनते हैं।

आगे यमाचार्य ने नचिकेता को बताया—'इन साधकों के लिये ओऽम् पद सबसे बड़ा सहारा है। सारे वेद इसी पद को परमात्म-प्राप्ति का साधन बतलाते हैं। यम, नियम, ब्रह्मचर्य-पालन ही इसकी प्राप्ति का साधन है। ओऽम् पद ही स्वयं अजर, अमर, सर्वज्ञ है। यही ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसके 'अ' अक्षर से सर्व-व्यापक, 'उ' से प्रकाशमान् होनेवाले तथा 'म' से निश्चेष्ट प्रकृति को गति देनेवाले परमात्मा का बोध होता है। इसी 'ओऽम्' या प्रणव का फल योग-दर्शन में आत्म-साक्षात्कार भी बताया है। (यो० सा० ६२) ओऽम् प्रणव के जाप करने से योग-मार्ग के विघ्नों का नाश होकर परमात्मा की कृपा से उनका दर्शन हो जाता है। मनुष्य का शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी का उद्देश्य इसी ओऽम् का ज्ञान प्राप्त करना है। इसकी उपासना ही मुक्ति-प्राप्ति का सबसे सुलभ साधन है। इसके जप से अविद्या का नाश होकर मनुष्य के कर्म सर्वभूतहिते रत अर्थात् निष्काम हो जाते हैं। निष्काम कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि और अन्तःकरण की शुद्धि से ब्रह्म-प्राप्ति का अक्षय आनन्द प्राप्त होता है।'

आगे चलकर यम कहते हैं—'नचिकेता! जीवात्मा और परमात्मा अजर-अमर हैं। उनका कोई उपादान कारण नहीं है। ये षड् विकार अर्थात उत्पत्ति, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय एवं विनाश से परे हैं। उत्पत्ति और नाश तो शरीर का धर्म है। इसमें रहनेवाले जीव और ब्रह्म की न उत्पत्ति होती है और न विनाश। परमात्मा अशरीरी है, संसार में रहकर भी गति-रहित है, सबसे महान् है, सबके हृदय में साक्षी रूप से विद्यमान है, इस तथ्य का जब तक मनुष्य को ज्ञान नहीं होता तभी तक पाप की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। जिस

प्रकार पुलिस की उपस्थिति में मनुष्य अपराध नहीं करता, उसी प्रकार यदि हम जान लें कि वह परमात्मा भी हमारे हृदय में विद्यमान रहकर हमारे पाप कर्मों को देख रहा है तो मनुष्य पाप कर्मों से उपरत हो जाता है।

'यह ज्ञान न तो प्रवचन के द्वारा, न बुद्धि से, न बहुत विद्या प्राप्त करने से और न सुनने से हो पाता है। उसका ज्ञान तो किसी ऐसे ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा-द्वारा ही हो सकता है जो स्वयं लक्ष्य पर पहुँच चुके हों। इसके लिये भगवत् कृपा भी वांछनीय है। वह जब स्वयं अन्तर में अपना प्रकाश करते हैं, तभी मनुष्य अज्ञानान्धकार से मुक्ति पा सकता है। दुराचार में लीन, ज्ञान के प्रकाश से रहित, चिन्ता से व्याकुल और निश्चयात्मिका बुद्धि से चंचल रहनेवाला मनुष्य कभी उसे प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। मन की प्रवृत्तियों को विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी कर लेने से ही उस अनन्त सुख की प्राप्ति सम्भव है।'

और अधिक स्पष्ट करने के लिये यम ने उदाहरण दिया कि आत्मा हो रथी, शरीर हो रथ, बुद्धि ही सारथी, मन ही लगाम, इन्द्रियाँ ही घोड़े औरइन्द्रियों के विषय ही मार्ग (लीक) हैं। आत्मा इस शरीर-रूपी रथ में बैठकर अपने लक्ष्य ओऽम् की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। चतुर सारथि जिस प्रकार रथ को निश्चित स्थान पर ले जा पहुँचाता है, उसी प्रकार विमल बुद्धि-रूपी सारथि भी मन-रूपी लगाम की रोक लगाकर इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को विषयों के बुरे मार्ग पर जाने से रोककर रथ को लक्ष्य की ओर हाँक ले जाता है। अतः, बुद्धि-द्वारा मन का निग्रह करना ही बल-प्राप्ति का साधन है। जिसका मन बुद्धि का सहकारी हो, उसकी इन्द्रियाँ मित्रवत् कार्य करती हैं। बुद्धि को विमल बनाने के लिये वेद-विद्या का ज्ञान आवश्यक है।

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। ज्ञान से परिष्कृत बुद्धि ही मनुष्य को संसार की अनित्यता एवं आत्मा की

नित्यता का बोध कराती है। आत्मा निराकार एवं मन भौतिक साकार होने के कारण बुद्धि की सहायता के बिना परमात्मा की ओर प्रवृत्त नहीं होता।'

'वह परमात्मा, शब्द गुणवाले आकाश, स्पर्श गुणवाले वायु, रूप गुणवाले अग्नि, रस गुणवाले जल एवं गन्धवती पृथ्वी से भिन्न है। वह अनादि, अनन्त, सबसे महान् होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म एवं एकरस है। जब मनुष्य को शरीर से आत्मा के भिन्न होने का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब स्वाभाविक सत् चित् जीव आनन्द प्राप्त करके सच्चिदानन्द हो जाता है एवं शोक-मोह से छूट कर जन्म-मरण के बंधन से परे जहाँ से आया है वहीं चला जाता है।'

उस ज्ञान से नचिकेता का बहुत कल्याण हुआ था और जो भी मनुष्य उस कथा को सुनकर तदनुकूल जीवन यापन करेंगे, उनका भी कल्याण निश्चित है।

रैक्व एवं राजा जानश्रुति

प्राचीन समय में जानश्रुति नाम के एक प्रसिद्ध राजा थे जिन्होंने अतिथि-सत्कार, साधु-संतों की सेवा, जन-साधारण के लिये स्थान-स्थान पर अन्नक्षेत्र, धर्मशाला, कूप, वापी, तडाग आदि निर्माण कराकर बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थो। यज्ञ-यागादि में यज्ञ-कर्त्ताओं को विशाल धनराशि वितरिन करना उनका स्वभाव था। ऐसे दानशील राजा को सकाम कर्मों में प्रवृत्त देखकर कुछ दयालु संतो ने हंस का रूप धारण करके उसे ब्रह्मज्ञान की ओर प्रवृत्त करना चाहा।

एक दिन राजा ने अपने राज-प्रासाद की छत पर सोते हुए स्वप्न में हंसों की पंक्ति उड़ती हुई देखी। उस पंक्ति का पिछला हंस अगले हंस को संबोधन करके कह रहा था—'भाई भल्लाक्ष! यहाँ का सारा क्षेत्र राजा जानश्रुति के तेज से परिव्याप्त है। ऐसा न हो कि इस वातावरण में हम लोग भस्मीभूत हो जावें।' यह सुनते ही पहले हंस ने उत्तर दिया,—'भोले भाई! तुमने कभी गाड़ीवाले रैक्व का नाम भी सुना है?' 'वह गाड़ी वाला रैक्व कौन है?' भल्लाक्ष ने पूछा। दूसरा हंस बोला—'रैक्व अपनी तपस्या के बल पर समस्त प्रजा के किये हुए शुभ कर्मों का एकमात्र अधिकारी है। उसी की तपस्या के तेज से सारा वातावरण तपोभूत हो रहा है। उसके तेज के सामने इस राजा का तेज क्या है? अतः, बचना हो तो उस तेज से बचने का प्रयत्न करो।'

स्वप्न में राजा जानश्रुति ने हंसों के मुख से जब अपने दान-कर्मों को तुच्छता एवं रैक्व को तपस्या की प्रशंसा सुनी तब स्वभावतः

राजा को उनके दर्शनों की तीव्र उत्कंठा उत्पन्न हो उठी। उन्होंने अपने अनुचरों को बुलाकर रैक्व को ढूँढने का आदेश दे दिया।

अनुचरों ने समझा कि स्वयं महाराज जिस व्यक्ति से मिलने के लिये इतने आतुर हैं, वह व्यक्ति अवश्यमेव कोई महान् पुरुष होगा। किन्तु राज्य के समस्त प्रमुख स्थानों में खोज करने पर भी जब कहीं रैक्व का पता न लग पाया तब निराश होकर सब ने वापिस लौटकर राजा को सब समाचार दे दिया। राजा ने पूछा—'रैक्व को ढूँढने तुम लोग कहाँ-कहाँ गये थे।' वे बोले—'हमने नगर-नगर, ग्राम-ग्राम सर्वत्र उनकी खोज की लेकिन उनका कहीं पता नहीं लग पाया।' राजा हँस कर कहने लगे—'अरे! ब्रह्मज्ञानी पुरुष क्या इन मायाग्रस्त सांसारिक पुरुषों की बस्तियों में उपलब्ध होते हैं? पुनः जाकर उन जंगलों, नदी-तटों एवं निर्जन एकांत स्थानों में उन्हें ढूँढो जहाँ ब्रह्मज्ञानी निवास किया करते हैं।'

ऐसे स्थानों की खोज करते-करते एक निर्जन स्थान में टूटी हुई गाड़ी के नीचे एक मनुष्य शरीर खुजलाते हुए दिखाई पड़ गया। उत्सुकतावश अनुचरों ने उनसे पूछा—'भगवन्! क्या ब्रह्मज्ञानी रैक्व आप ही हैं?' 'हाँ, मैं ही हूँ'—मुनि ने उत्तर दिया। इस प्रकार उनका परिचय प्राप्त करके प्रसन्नता से अनुचरों ने राजा से उनका वृत्तांत आ बताया।

रैक्व का पता पाकर राजा जानश्रुति आनन्द-विभोर हो उठे। उपहार में देने के लिये छह सौ सुन्दर-सुन्दर दुधारू गायें, एक कण्ठ-हार एवं खच्चरियों से जुता हुआ एक सुन्दर रथ लेकर वे मुनि की सेवा में जा उपस्थित हुए—'भगवन्! आप इसे स्वीकार करने की कृपा करें एवं आप जिस देवता की उपासना करते हैं उसी देवता की उपासना मुझे भी सिखावें।' सांसारिक भोगों में आसक्त राजा को इस बात का ज्ञान नहीं रहा कि ब्रह्मज्ञान का उपदेश तो गुरु सब भाँति

परीक्षा करके अपने अधिकारी शिष्य को ही प्रदान किया करते हैं। इसके लिये शिष्य को शान्त, दान्त, श्रद्धालु, आचारवान् एवं ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए।

राजा को सम्बोधन करके ऋषि कहने लगे--'अरे शूद्र! ये सब सांसारिक भोग की वस्तुएँ तू अपने ही पास रख।' इस प्रकार अपमानित होकर राजा वापस लौट आया एवं चिंतन करने लगा कि सम्भव है इतने उच्च ज्ञान के लिये ऋषि ने इस उपहार को तुच्छ समझ कर स्वीकृत न किया हो। अतः, इस बार एक सहस्र गौएँ, एक रत्न-जटित कण्ठहार, सुन्दर रथ एवं अपनी अनुपम सुन्दरी कन्या को लेकर वह पुनः ऋषि के समक्ष जा उपस्थित हुआ और कहने लगा-- 'भगवन्! इस कन्या-समेत यह सारा उपहार आपको अर्पित है एवं जिस स्थान में आप रहते हैं, यह भी आपके नाम से ही प्रसिद्ध होगा। अब आप मुझे कृपया ब्रह्मज्ञान प्रदान करने की कृपा करें।'

ऋषि ने राजा को पुनः शूद्र सम्बोधन करके समस्त उपहार लौटा ले जाने के लिये कह दिया। यह सुनकर राजा निराश होकर बैठ गया। लेकिन राज-कन्या की करुण दृष्टि से मुनि का मन पसीज गया। ऋषि कहने लगे---'राजन्! तुम्हारा कोई भी उपहार मुझे तुम्हें उपदेश देने को बाधित नहीं कर सका। लेकिन तुम्हारे कन्यारूपी रत्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः इसे भार्या-रूप में ग्रहण करके मैं तुम्हें उस देवता की उपासना का प्रकार बताऊँगा जिसकी मैं उपासना करता हूँ।

इतना कहकर ऋषि ने राजा जानश्रुति को संवर्ग विद्या का इस प्रकार उपदेश देना प्रारम्भ किया---'राजन्! इस संवर्ग (जो अपने में सबको मिला लेवे) विद्या के दो भेद हैं---एक अधिदैवत दूसरा अध्यात्म।

प्रथम विद्या में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देनेवाला एवं अन्त में सब पदार्थ अपने में लीन कर लेनेवाला वायु-रूपी परमात्मा ही संवर्ग

है। अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा तथा जल आदि सारे देवता उपशान्त काल में उसी गतिशील वायु-रूपी परमात्मा में लीन हो जाते हैं। इस रूप में उपासना करना अधिदैवत संवर्गोपासना है। दूसरी में सारे संसार को प्राण प्रदान करनेवाला प्राण-रूपी परमात्मा ही संवर्ग है। वाक्, चक्षु, श्रोत्र एवं मन आदि इन्द्रियों की पराकाष्ठा ही एकमात्र ब्रह्म है। अर्थात् जब पुरुष इस असार संसार से प्रयाण करता है तब प्राणी की सभी इन्द्रियाँ उसी प्राणरूपी एकमात्र परमात्मा में लय हो जाती हैं। इसी का नाम आध्यात्मिक संवर्गोपासना है। इन दोनों प्रकार की प्रार्थनाओं को जाननेवाला पुरुष इस लोक में सिद्धि प्राप्त करके मरने के पश्चात् आवागमन के बंधन से छूटकर मुक्त हो जाता है।'

मुनि से यह ज्ञान पाकर राजा जानश्रुति संतुष्ट होकर अपने राज्य को वापस लौट गया।

मृत्यु के पश्चात्

यह तो साधारण सत्य है कि 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युमृतोजंन्म ध्रुवस्तथा'—कि जन्म लेनेवाले की मृत्यु और मरनेवाले का पुनर्जन्म लेना ध्रुव सत्य है। प्रश्न यह उठता है कि मृत्यु के पश्चात् जीव किस अवस्था में रहेगा, जन्म से पूर्व किस अवस्था में था और किस व्यवस्था के द्वारा मनुष्य पुनः शरीर धारण करता है। इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर तो नहीं मिलता लेकिन हमारे शास्त्रों ने इस पर कुछ प्रकाश अवश्य डाला है। अर्जुन के पूछने पर गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने पूर्व जन्मों की स्मृति की वात बताते हुए कहा है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ ४।५

[मेरे और तेरे अनेक जन्म हुए हैं। उन सब के बारे में मैं तो जानता हूँ लेकिन तू नहीं जानता।] लेकिन मृत्यु के पश्चात् किस व्यवस्था के अनुसार मनुष्य पुनर्जन्म धारण करता है इस पर उन्होंने भी कोई प्रकाश नहीं डाला। गर्भ में आने से पहले मनुष्य पिता के वीर्य में अवस्थित था। वहाँ से माता के गर्भ में जाकर इस शरीर की उपलब्धि हुई। अब प्रश्न यह उठता है कि पिता के वीर्य में आने से पहले वह कहाँ था।

तो उससे पहले वह अन्न में विद्यमान था जो पिता के भोजन की विविध प्रणालियों से वीर्य रूप में परिणत हुआ था। छांदोग्य उपनिषद् में राजा प्रवारण जैवलि के प्रश्न करने पर उद्दालक मुनि ने इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

'मरने के पश्चात् शरीर को अग्नि में दग्ध किया जाता है। उस अग्निशिखा के साथ सर्वप्रथम जीव उड़ कर द्युलोक में जाता और वहाँ वह मेघ में जाकर वर्षा होकर बरस जाता है। तत्पश्चात् पृथ्वी के साथ सम्पर्क पाकर वह वनस्पति के रूप में पैदा होता है। वे वनस्पतियाँ अपने अपने कर्मानुसार पशु, पक्षी, मनुष्यादि प्राणियों-द्वारा खाई जाकर जठराग्नि के विधान के द्वारा वीर्य में परिणत हो जाती हैं जो नारी के गर्भाशय में जाकर शरीर धारण करता है। इस प्रकार बालपन से युवावस्था, युवावस्था से वृद्धत्व एवं वृद्धत्व से जीव पुनः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

अब जो जीव इस जीवन में वेदविहित मार्ग का अनुसरण करके जीवन यापन करते हैं वे भक्त प्रकाशमय लोक को प्राप्त होते हैं। वे प्रकाश से दिन में, दिन से शुक्ल पक्ष में, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण सूर्य में, वहाँ से चन्द्रलोक में और चन्द्रलोक से विद्युत् सदृश धाम को प्राप्त होते हैं। इसे हमारे शास्त्रों ने देवयान मार्ग बताया है। केवल परमात्मा के भक्त ही इस मार्ग से प्रयाण करके दिव्य लोकों को प्राप्त होते हैं।

दूसरे प्रकार के जो मनुष्य निष्काम सर्वभूतहिते रत कर्मों को छोड़ कर सकाम कर्म करते, कुएँ, तालाब, स्कूल, धर्मशाला, अस्पताल आदि का निर्माण करवाते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म शरीर से धूम्र में रहकर, धूम्रसे रात्रि में, रात्रि से कृष्ण पक्ष में, कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन सूर्य के मार्ग का अवलम्बन कर के वहाँ से मास में, मास से पितृलोक में, पितृलोक से चन्द्रलोक में और वहाँ नियत समय तक अपने शुभ कर्मों का फल उपभोग करने के पश्चात् आकाश में, आकाश से वायु में, वायु से धूम्र में, धूम्र से मेघ में, मेघ से वनस्पति में, वनस्पति से वीर्य में, वीर्य से माँ के गर्भ में प्रवेश करके पुनः इस संसार में वापस लौट आते हैं।

तीसरे प्रकार के मनुष्य वे हैं जो नाना प्रकार के पाप कर्म किया करते हैं। वे मृत्यु के पश्चात् ऊपर न उठ कर यहीं पृथ्वी पर पड़े रह जाते हैं। इसी का नाम अधोमार्ग है। इस मार्ग को प्राप्त होकर जीव कर्मानुसार कीट-पतंग-वृक्षादि नीच योनियों को प्राप्त हो जाता है।

अब उपर्युक्त मार्ग और लोक सब हैं क्या ? इस संसार-चक्र में सूर्य-लोक, चन्द्र-लोक, पितृ-लोक एवं अन्य नक्षत्रादि विश्राम स्थल हैं जिनमें क्रमशः होकर यह आत्मा एक से दूसरे में विश्राम करता हुआ चलता है। इन्हीं क्रम विशेषों को शास्त्रों ने पक्ष का नाम दिया है।

अपने कर्मों के अनुसार ऊर्ध्व और अधोगतियों को प्राप्त होता हुआ जीव किन-किन लोकों में होकर गुज़रता है उन सबका नामकरण असंभव है। अतः, यहाँ मनुष्यों को दृश्यमान जो चन्द्र-सूर्यादि लोक हैं इनमें से कुछ लोक प्रकाशमय हैं और कुछ तमोमय।

अतः, सूर्य-लोक का मार्ग प्रकाशमय माना गया है। वहाँ सब मुक्ति-प्राप्त जीवों का निवास है। अतः, इसे देवयान मार्ग कहा गया है। अग्नि की ज्वाला के साथ उठनेवाला जीव जिस देवयान मार्ग से प्रयाण करता है उसे अर्चि-मार्ग कहते हैं, जो सूर्य लोक को जाता है। सूर्य यहाँ प्रकाश-लोक का प्रतीक है। इस देवयान मार्ग पर चलनेवाला जीव स्वप्नावस्था में स्वतंत्र चलता जाता है और परमात्मा की इस सृष्टि में राजकुमार की भाँति विचरता है। यद्यपि इस लोक में भौतिक शरीर नहीं होता तो भी जीव अपने दिव्य संकल्पमय शरीर से परमात्मा की सारी सृष्टि में भ्रमण करके आनन्द भोगता है।

ऐसे जीवों के भी कई प्रकार हैं। जिस जीव का संबंध ऐसा है जैसा राजा के साथ प्रजा का होता है, वह सालोक्य मुक्ति, जिसका सभासद् जैसा होता है उसे सामीप्य मुक्ति, जिसका अंग से अंगी की

भाँति होता है उसे सारूप्य मुक्ति, एवं जो अंतिम मिलाप का पद है उसे सायुज्य मुक्ति कहते हैं। इस प्रकार ऐसा मुक्त जीव सूर्य से चन्द्र-लोक, और वहाँ से विद्युल्लोक होकर ब्रह्मलोक में स्वयं प्रजापति से जा मिलता है।

दूसरा देवयान से बाँईं ओर पितृयान मार्ग है। प्रथम मार्ग का प्रारम्भ तो अग्नि की ज्वाला से होता है किन्तु इस दूसरे का प्रारम्भ धूम्र से होता है। अतः, इसे दक्षिणायन या धूम्र-मार्ग कहते हैं। यह भी ऊर्ध्व मार्ग है—लेकिन यह सड़क पूर्णतः तमोमयी है, इसमें प्राणी सुपुप्ति अवस्था में अचेत सा रहता है। लेकिन जब पुनर्जन्म का समय सन्निकट होता है तब स्वप्नावस्था को प्राप्त होकर अपने जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है। जन्म के समय इस स्वप्नावस्था से विलग होकर वह जाग्रत् अवस्था को प्राप्त हो जाता है लेकिन इन्द्रियों की अपूर्णता के कारण उसकी पूर्व जन्म की स्मृति लुप्त हो जाती है।

तीसरा मार्ग अधोमार्ग है। इसमें पापी जीव ऊर्ध्व गति को प्राप्त ही नहीं होता अपितु पृथ्वी पर ही रहकर कीट-पतंग आदि नीच योनियों को प्राप्त हो जाता है।

शव को अग्नि में भस्मीभूत करने के पश्चात् ही ये सारे मार्ग फटते हैं। जब जीव ज्वाला से उठता है तब अर्चि-मार्ग के द्वारा ऊर्ध्व लोकों को, धूम्र से उठता है तब तमोमय मार्ग के द्वारा चन्द्रलोक या पितृलोक को, लेकिन जब वह भस्म होकर पृथ्वी पर ही पड़ा रहता है तब अधो मार्ग ग्रहण कर कीट-पतंग आदि योनियों को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वेद-विहित जीवन व्यतीत करनेवाला जीव देवयान मार्ग का अनुसरण करके मुक्ति का अधिकारी हो जाता है और आवागमन के बंधन से मुक्त हो जाता है। लेकिन जो जीव सकाम यज्ञ, दान, जप, तप करते हैं वे पितृ-यान मार्ग पर चलकर अनेक दिव्य

लोकों का आनन्द उपभोग करके पुनः जन्म धारण कर लेते हैं, और जो इन सत्कर्मों का परित्याग कर देते हैं वे अधो-मार्ग पर अग्रसर होकर बार बार कीट-पतङ्गादि योनियों में जन्म लेकर मरते-जीते रहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि ये पितर् हैं क्या ? हमारे माता-पिता ही केवल पितर् नहीं हैं अपितु जितने भी दिव्य तत्त्व हमारे जन्म में हेतु होते हैं, वे सब पितर् हैं। इनमें सबसे प्रथम पितर् सूर्य और चन्द्रमा का जोड़ा है जो उष्णता और तरलता का सम्मिश्रण है। दूसरे पितर् संवत्सर हैं जो उत्तरायण और दक्षिणायन के मिलाप हैं। तीसरे पितर् मास हैं जो कृष्ण और शुक्ल पक्ष का मिलाप करते हैं एवं चौथे पितर् अन्न हैं जो रज और वीर्य का सम्मिश्रण (दंपती) हैं। भौतिक माता-पिता की भाँति इन पितरों में भी नर और मादा का जोड़ा होता है— सूर्य पिता चन्द्रमा माता, उत्तरायण पिता दक्षिणायन माता, शुक्ल पक्ष पिता—कृष्ण पक्ष माता, दिन पिता रात्रि माता, वीर्य पिता रज माता।

अब यहां पिताओं की पंक्ति "प्राण" एवं माताओं की पंक्ति "रात्रि" कहलाती है। प्राण है प्रजापति का आध्यात्मिक तत्त्व और रात्रि है प्रजापति का शारीरिक तत्त्व जो परिवर्तनशील है। अतः पितृयान मार्ग पर चलनेवाला तो शारीरिक ऊर्ध्व गति पाता है एवं देवयान पर चलनेवाला मानसिक ऊर्ध्व गति प्राप्त करता है जो मुक्ति का शाश्वत आनन्द है।

जिस प्रकार भौतिक माता-पिता हमारी उत्पत्ति में कारण होते हैं इसी प्रकार मरने के पश्चात् हमें उपर्युक्त माता-पिताओं की गोद में भी जाना पड़ता है। ये समस्त पितर् प्रजापति-रूप हैं। अग्नि में जलने के पश्चात् इनसे मिलाप होता है, अतः ये अग्निष्वात्त' कहलाते हैं।

प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद मुनि ने कात्यायन से पहला प्रश्न किया था कि हम कहाँ से उत्पन्न होते हैं और कौन हमारे जनक-जननी हैं। ऋषि कहने लगे कि सृष्टि के आदि में प्रजापति के मन में इच्छा हुई—"एकोऽहं बहुस्याम्" एक हूँ, अनेक हो जाऊँ। तब उसने प्राण (फ़ोर्स) और रात्रि (मैटर) का एक जोड़ा उत्पन्न किया और सोचा कि दोनों से मेरी संतानों की बढ़ोतरी होगी।

सर्वप्रथम सूर्य जगत् का प्राण है जिसकी किरणें मनुष्यों के प्राणों की रक्षा एवं शरीर में प्रविष्ट होकर निरोगता प्रदान करती हैं एवं अग्नि-स्वरूप होकर हमारी पाचन-क्रिया को नियंत्रित कर के प्राणों की रक्षा करती हैं। चन्द्रमा भी इसी प्रकार विकसित होकर सबको रात्रि प्रदान करता है। अतः सूर्य और चन्द्रमा का जोड़ा मिलकर संसार में प्राण और रात्रि के द्वारा उत्पत्ति और विनाश का कार्य करते रहते हैं। दूसरा पितर् संवत्सर है जिसकी उत्पत्ति वास्तव में सूर्य और चन्द्रमा की परिक्रमा-द्वारा होती है। सूर्य की परिक्रमा से संक्रान्ति एवं चन्द्रमा की परिक्रमा से तिथि-रूप संवत्सर उत्पन्न होता है। यहाँ उत्तरीय पथ नर एवं दक्षिण पथ नारी है और मनुष्य इसी के अंतर्गत जीवन और मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। यहाँ वेद-विहित कर्म करनेवाले को संवत्सर, उत्तरायण मार्ग से मुक्ति की ओर, एवं सकाम कर्म करनेवाले को दक्षिणायन मार्ग से माता की भाँति शारीरिक भोग दिलाता है जिन्हें भोगने के पश्चात् प्राणी पुनः संसार में लौट आता है। इस प्रकार संवत्सर के अंतर्गत यह आवागमन का कार्य चलता रहता है।

अब संवत्सर के अंतर्गत ही तीसरे पितर् भी हैं। इसमें शुक्ल पक्ष पित एवं कृष्ण पक्ष माता है। इन्हीं दोनों में प्रजापति-संतान अपने सब यज्ञादि कर्म संपादन करती रहती हैं। अब चौथे पितर् दिन और रात्रि हैं जो तीसरे संवत्सर के अंतर्गत कार्य करते रहते हैं। मेंसइ

दिन पिता और रात्रि माता है। इन्हीं में संसार के सारे कार्य चलते हैं। अब पाँचवाँ पितर् अमृत है जिसके अन्तर्गत वीर्य पिता एवं रज माता है। अन्न-पान करने से ही रज-वीर्य की उत्पत्ति होती है और इनके सम्मिश्रण से ही इस संसार की उत्पत्ति होती है।

अतः इन्हीं पितरों की सहायता से संसार में उत्पत्ति-प्रलय का कार्य चलता है और हम इन्हीं के सहायता से जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म लेते रहते हैं। अपने शास्त्रों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् जीव का इस प्रकार संचरण होता चलता है।

देवता

शकल के पुत्र विदग्ध नामा ऋत्विक् ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि 'देवता कितने हैं।' याज्ञवल्क्य ने कहा—

'३३०६ देवता हैं।' विदग्ध ने पुनः वही प्रश्न दोहराया—'देवता कितने हैं ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'छह'। विदग्ध ने यही प्रश्न पुनः दोहराया—'देवता कितने हैं ?' याज्ञवल्क्य ने कहा–तीन।' फिर पूछा तो याज्ञवल्क्य ने क्रमशः दो तथा एक बताये। विदग्ध कहने लगे–'भगवन् ! ३३०६ कौन हैं ?' याज्ञवल्क्य कहने लगे—'देवता वास्तव में ३३ ही हैं। इन्हीं की महिमा का वर्णन करने के हेतु इनकी संख्या ३३०६ बतायी गयी है।' विदग्धने प्रश्न किया—'३३ देवता कौन-कौन से हैं ?' याज्ञवल्क्य कहने लगे—'८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र तथा १ प्रजापति ही ३३ देवता हैं। इनमें से अग्नि पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र-गण का नाम चराचर को वास देने के कारण वसु पड़ा।

५ प्राण (प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान), ५ उपप्राण (नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय) तथा १ मन का नाम एकादश रुद्र है। जब पुरुष के शरीर से मृत्यु के समय ये प्रयाण करते हैं व संबंधी-गण रुदन करते है तब रुलानेवाले होने के कारण इनकी रुद्र संज्ञा है। बारह मास ही आदित्य हैं। ये मास पुनः पुनः आवर्त्तन करते हुए मनुष्य की आयु को क्षीण करते हैं। मेघ का ही नाम इन्द्र है। वर्षा से अन्नादि की उत्पत्ति के द्वारा ही मनुष्यों को ऐश्वर्य प्राप्त होता है। उसमें सहकारी होने से अशनि (मेघ-गर्जन) की भी इन्द्र संज्ञा है, जिसके द्वारा प्रजा की रक्षा होती है। उस परमात्मा या यज्ञको

तथा पशु आदि यज्ञ के साधनों (घृत आदि) को भी प्रजापति कहते हैं। इस प्रकार कुल ३३ देवता हैं। अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य और द्यौ ही छह देवता हैं। अग्नि, वायु, आदित्य ही तीन देवता हैं। अन्न और प्राण सब के जीवन के हेतु होने से शेष सब देवताओं का इन्हीं दो में अंतर्भाव हो जाता है। वायु ही अध्यर्ध देवता हैं। सब चराचर इसी से वृद्धि को प्राप्त होते हैं इसीलिये इसको अध्यर्ध कहते हैं। इनकी संख्या का हिसाब नहीं है। प्राण या ब्रह्म ही एक देवता है क्योंकि यही सब देवों का देव और प्राणिमात्र को प्राणन-रूपी चेष्टा देनेवाला है।

द् द् द्

प्रजापति की तीन संतानें देव, मनुष्य तथा असुर थीं। ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति के पश्चात् तीनों ने पिता के पास आकर विनीत भाव से उनसे ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग जानने की जिज्ञासा की।

सर्वप्रथम देवों ने आकर उनसे ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय पूछा। देव तो सत्त्व एवं रजस् प्रधान गुणवाले होते हैं। अन्तःकरण में सात्त्विक भावना की प्रधानता हुए बिना ज्ञान-प्राप्ति संभव नहीं। "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं"—गीताकार ने बताया कि सत्त्व गुण की अधिकता के बिना पदार्थ-ज्ञान असंभव है। अतः प्रजापति ने देवताओं को 'द' अक्षर का उपदेश दिया। 'तुम लोग समझे?' यह पूछने पर देवता बोले—'भगवन्! आपने 'द' अक्षर-द्वारा इन्द्रियों को दमन करना बताया है क्योंकि इसके बिना अन्तःकरण की शुद्धि संभव नहीं। अदान्त इन्द्रिय-सुख किसी को भी विवेक-पथ से च्युत करके विषय रूपी गर्त्त में गिराकर नष्ट भ्रष्ट कर डालता है।'

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः। कठ० ३।५

[अज्ञानी पुरुष सदा विषय-लम्पट रहकर संशय-ग्रस्त मनवाले होकर अपनी इन्द्रियों पर शासन नहीं कर सकते। ऐसे पुरुष दुष्ट घोड़ों के रथ की रस्सी के सदृश नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।] अतः इन्द्रिय-दमन का उपदेश सुनकर देवता लोग प्रसन्न होकर लौट गये।

इसके पश्चात् मनुष्य अपने पिता प्रजापति के पास पहुँचे और उन्होंने भी ब्रह्म प्राप्ति का ही मार्ग पूछा। प्रजापति ने उन्हें भी 'द' अक्षर का ही उपदेश दिया। उपदेश के पश्चात् प्रजापति ने जिज्ञासा

की—'क्या समझे ?' मनुष्य बोले—'भगवन् ! आपने हमें दान करने का उपदेश दिया है क्योंकि मनुष्य अर्थ-सञ्चय करके अनेक प्रकार के अनर्थ किया करते हैं। अतः उसे चाहिए कि अन्याय से धन सञ्चय करना पाप समझ कर, तथा न्याय-संप्राप्त धन में ही संतोष मानकर यज्ञ-तप-दानादि अनुष्ठान के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि-करके परमात्म-परायण होकर सब प्रकार के सुख उपलब्ध करे।

मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ।

ऋग्वेद १०।११७।६

[भगवत्प्रदत्त यथाप्राप्त भोगों से असंतुष्ट चित्तवाला व्यक्ति न्याय-पूर्वक धन सञ्चय नहीं करता तथा धन सञ्चय करके केवल स्वार्थ-परायण होकर भोगों को भोगता है। उसके भोग पदार्थ ही उसकी अपमृत्यु के कारण बनकर उस पतित पुरुष को नष्ट कर डालते हैं। अतः तुम लोग दान के द्वारा शम-दम-साधन-सम्पन्न होकर ब्रह्म-प्राप्ति के अधिकारी बनो।] अपने पिता प्रजापति से ऐसा उपदेश पाकर मनुष्य संतुष्ट होकर चले गये।

इसके पश्चात् असुर लोग प्रजापति के पास पहुँचे और उन्होंने भी अपने पिता से अपने लिए कल्याण-मार्ग की जिज्ञासा की। प्रजापति ने उन्हें भी 'द' अक्षरका ही उपदेश दिया। उपदेश के पश्चात् प्रजापति ने उनसे जिज्ञासा की—'तुम क्या समझे ?' असुर बोले-'भगवन् ! आपने हमें 'दया' करने का उपदेश दिया है।' 'प्रजापति ने कहा—ठीक है। तुम लोग तामस गुण-प्रधान हो। हिंसा तुम्हारी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मांस तुम्हारा भक्ष्य है जो प्राणियोंकी हिंसा से ही प्राप्य है। मांसादि अखाद्य पदार्थों के सेवन करनेवाले का अन्तःकरण कदापि शुद्ध नहीं होता। अतः तुम्हारे कल्याण का मार्ग एक मात्र अहिंसा है।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः श्रेयस्तस्माद्धिंसा विवर्जयेत् ॥

[प्राणियों की हिंसा से मांस की उपलब्धि होती है। स्वार्थ के लिए प्राणियों का वध कल्याण का हेतु नहीं होता। अतः हिंसा का सर्वथा परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर है।] इस प्रकार अपने पिता से दया की शिक्षा प्राप्त कर असुर भी संतुष्ट होकर लौट गये।

इस आख्यायिका में उपनिषत्कारने बताया है कि मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए, इन्द्रियों का दमन करना, दान देना तथा प्राणियों पर दया-भाव रखना चाहिये। ये तीनों कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के मुख्य साधन हैं। इन साधनों के अनुष्ठान से शेष अन्य साधनों की भी उपलब्धि हो जाती है। अतः मनुष्यको चाहिए कि साधना के इन अनुष्ठानों के द्वारा चित्त की शुद्धि करके ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करे और परमात्म-परायण होकर अनन्त सुख प्राप्त करे।

योग-साधना

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।। गीता ६।४६

योग का महत्त्व वर्णन करते हुए भगवान् ने अर्जुन से कहा— "योगी की महत्ता तपस्वी एवं ज्ञानी दोनों से उच्च है एवं कर्म करनेवालों में भी योगी का स्थान उच्चतम है। अतः अर्जुन ! तू योगी बन।" योगाभ्यास के लिए मनुष्यको अपने आपको निरन्तर योग-साधन में तत्पर रखना पड़ता है—"योगी आत्मानं सततं भुञ्जीत।" मन में उद्भूत होनेवाली प्रत्येक वृत्ति का निरीक्षण परीक्षण कर उन पर नियंत्रण करना ही योग है—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" अतः प्रातःकाल से लेकर शयन-पर्यन्त साधक को अपना समस्त समय योग के ग्रन्थों के स्वाध्याय, योग की परिचर्या, शरीर से आसनादि के अभ्यास, मन से साधना तथा मनन आदि कृत्यों में व्यतीत करना पड़ता है। तभी योगी सत्वर सिद्धि को प्राप्त करने में कृतकार्य होता हैं। अन्यथा अंशतः योग-साधन से वृत्तियाँ तो क्रमशः सात्त्विक हो सकेंगी लेकिन सफलता अंशतः ही प्राप्त हो पावेगी है।

अनेक व्यवसायों में संलग्न बुद्धि के द्वारा मन का निरोध सम्भव नहीं। योग-साधन के लिए सर्वप्रथम तो एकान्त में एकाकी रहना परमावश्यक है। साधना के लिए एकान्त स्थल ही अपेक्षित है। योगाभ्यास के निमित्त स्थान रमणीय तथा शीतोष्ण तापमानवाला हो जहाँ अधिक वायु एवं अधिक प्रकाश का समावेश न हो, बिच्छू सर्प आदि हिंस्र प्राणी न हों और जहाँ साधक निश्चिन्ततापूर्वक अभ्यास कर सके। उत्तम जल तथा हरीतिमा से आवेष्टित उद्यान भी साथ में अवस्थित रहे तो साधना के लिए और भी श्रेयस्कर होता है।

साधक को विषय-भोग के साधन नहीं एकत्र करने चाहिएँ। उससे मन व्यग्र होता है एवं ब्रह्मचर्य में बाधा पहुँचती है। चित्त, मन एवं इन्द्रियों को स्वैरचारी होने से बचाना एवं सत्कर्म में प्रेरित करना साधक का प्राथमिक कर्त्तव्य समझा जाना चाहिये। साधक-द्वारा सम्पादित समस्त कृत्य "सर्वभूतहिते रताः" होने चाहिएँ। आसन के लिए मृग-चर्मासन पर सूती वस्त्र बिछा लेना चाहिए।

आसन का स्थान न बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा, क्योंकि नीचे में सर्दी-गर्मी का प्रभाव एवं ऊँचे में गिरने को आशंका बनी रहती हैं। अभ्यास से पहले वस्ति, धौती, नेती, नौलिकी, त्राटक, कपालभाती नामक षट्कर्मों-द्वारा शरीर की शुद्धि कर लेने के पश्चात् ही ध्यानादि का अनुष्ठान सम्भव है। मल-संचय से चित्त की एकाग्रता में व्याघात होता है। शुद्धि के पश्चात् आसन-सिद्धि कर के साधक को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राण स्थिर हुए बिना चित्त स्थिर नहीं होता। अतः प्राणायाम के अभ्यास-काल में मनुष्य को दूध-घी का ही विशेष सेवन करना चाहिए, इससे शरीर का मेद दूर हो जाता है, शरीर तेजस्वी, नेत्र निर्मल और वीर्य स्थिर हो जाता है।

योग-साधन से देह, इन्द्रिय, प्राण-संस्थान, मज्जा, मन आदि सभी की शुद्धता हो जाती है। मन की एकाग्रता के लिए इन्द्रियों की समस्त क्रियाओं पर संयम की आवश्यकता है। अतः दसों इन्द्रियों के क्रिया-कलाप को नियंत्रित किये बिना मन की एकाग्रता सम्भव नहीं है। किसी भी इन्द्रिय से यदि मन उस ओर आकृष्ट हुआ तो एकाग्रता में बाधा पहुँचती है। बैठने के समय मस्तक, गले एवं धड़ को समरेखा में रखना आवश्यक है। मस्तक के पृष्ठवंश तक मज्जा-प्रवाह चलता है। इस संस्थान को सीधा रखने से हो योग-साधन से होनेवाला सहज आनन्द प्राप्त होता है, शरीर को स्तब्ध और शान्त रखने से एक अभौतिक आनन्द की अनुभूति होने लगती है। इस काल में दृष्टि नासिकाग्र पर रखनी चाहिए।

नासिकाग्र पर दृष्टि रखने से समाधि की अद्वैतावस्था प्राप्त होने लगती है। साधना-काल में मन में विविध कल्पना तरंगें हिलोरें लेने लगती हैं, किसी समय भय, कभी उदासीनता, और कभी निराशा उत्पन्न होने लगती है, पर इनसे साधक को घबराने की आवश्यकता नहीं।

अभ्यास-काल में कठोर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए। केवल जननेन्द्रिय का संयम ही ब्रह्मचर्य नहीं, अपितु समस्त इन्द्रिय-जनित वासनाओं पर अधिकार रखना वांछनीय है।

इस प्रकार मन की साधना करनेवाला योगी ही अखण्ड शान्तिमय प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है। योगी को अति भोजन नहीं करना चाहिए। अधिक उपवास करना तथा अधिक शयन-सुख का उपभोग करना भी साधक के लिए हानिकारक है।

मन अन्नमय एवं प्राण जलमय है। अतः उत्तम अन्न और उत्तम जल का सेवन करने से ही मन एवं प्राण स्वस्थ रहते हैं। स्वस्थ मन से चित्त की वृत्तियों का शीघ्र निरोध हो जाता है। मन के स्थिर होने से मन की स्थिति आत्मा में होती है। आत्मामें स्थिर होने से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति सम्भव हो जाती है और तभी उसे दिव्य आनन्द की उपलब्धि होने लगती है जो योग की सिद्धि के लिए परमावश्यक है।

श्रीकृष्णका पुरुषार्थ

भगवान् कृष्ण ने अपने अवतरित होने के तीन हेतु बताये हैं— १. परित्राणाय साधूनाम्, २. विनाशाय च दुष्कृताम् और ३. धर्म-संस्थापनार्थाय। अपनी इन्हीं तीनों प्रतिज्ञाओंकी पूर्ति के लिए उन्होंने जीवन भर संघर्ष किया और इनके पूर्ण होने पर ही यहाँ से प्रयाण किया।

महाभारत-काल में भारतवर्ष अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था— मद्र, केकय, गांधार, पाञ्चाल, काशी, कोशल, मत्स्य, मगध, कलिंग, अंग, बंग, चेदि, मणिपुर, सिन्धु, माहिष्मती, अवन्ती, प्राग्ज्योतिषपुर, त्रिगर्त, गुर्जर आदि। यहाँ के छोटे-छोटे राजा भी इतने बलवान् थे कि वे अपने को चक्रवर्ती सम्राट् से कम नहीं समझते थे और अवसर पाते ही अपने निकटवर्ती राज्य पर चढ़ाई करके उनका राज्य हस्तगत कर लेते थे। इसलिए उनका मदोन्मत्त होना स्वाभाविक ही था। स्वभावतः प्रजा उनके अत्याचारों का शिकार बनती रहती थी। इस प्रकार धर्मकी सारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हुई रहती थी।

ऐसे ही समय में भगवान् श्रीकृष्ण अवतरित हुए। उन्होंने समझ लिया कि अपने मन्तव्य की पूर्ति के लिए सबसे प्रथम इस विभक्त भारतवर्ष को एक समर्थ महान् भारत बनाने से ही अपने उद्देश्य की पूर्ति संभव हो सकेगी। अतः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने जीवन भर संघर्ष किया और अन्त में वे उसमें पूर्णतया सफल भी हो गये।

"विनाशाय च दुष्कृताम्" की पूर्ति के लिए उन्होंने परम पुरुषार्थी और भक्त अर्जुन को उसका निमित्त बनाया। वह ऋजु, निष्कपट और

कोमल था। अतः भगवान् की वाणी उसके हृदय-तल में प्रविष्ट हो गयी और वह 'करिष्ये वचनं तव' (आपकी बात मानूँगा) कहकर उसकी सिद्धि के निमित्त कटिबद्ध हो गया और श्रीकृष्ण स्वयं तटस्थ रहकर अर्जुन-द्वारा ही समस्त दुष्टों का नाश कराने में समर्थ हुए।

उस समय के राजाओं में सबसे प्रबल थे, धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव जिनका नेता था दुर्योधन। वे सभी मदोन्मत्त एवं निरंकुश थे। अतः, सर्वप्रथम उन्हीं का विनाश कराना भगवान् ने श्रेयस्कर समझा।

दुष्टों का विनाश किये बिना साधुओं का कल्याण किस प्रकार हो सकता है ? अतः, सर्वप्रथम ऐसे दुष्टों का विनाश ही भगवान् ने वांछनीय समझा और करा दिया। केवल दुष्टमात्र ही नहीं; अपितु जो लोग स्वयं धार्मिक प्रवृत्ति के होकर भी उन दुष्टों के अत्याचारों में सहायक थे, उन भीष्म-द्रोणादि का वध करना भी उन्होंने श्रेयस्कर समझा। इस प्रकार जब धरा से दुष्ट पुरुष उठ गये, तब प्रतिज्ञा के दूसरे भाग की पूर्ति करने का समय आया। छोटे-छोटे भागों में विभक्त भारत को महान् भारत बनाकर उन्होंने हस्तिनापुर राजधानी के एक सूत्र में आबद्ध कर दिया।

अपने इसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए उन्होंने स्वयं राज्य के सुखों और प्रलोभनों का परित्याग कर दिया। उन्होंने शिशुपाल-जैसे व्यक्तियों की गालियाँ सहीं, अपमान सहा, स्वयं राजा होकर भी अर्जुन का सारथ्य स्वीकार किया, जीवन संकट में डाला, अपनी तीन अक्षौहिणी सेना का परित्याग किया, शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा तोड़ी, दुर्योधन का विनाश कराकर स्वयं अपने भाई बलराम के कोप-भाजन बने, अन्त में जब देखा कि स्वयं उनके परिवार के लोग भी धर्म की मर्यादा के विरुद्ध चलने लगे हैं, तब स्वयं उनका भी अपने ही हाथों विनाश कर अपनी ही तृतीय प्रतिज्ञा 'धर्मसंस्थापनार्थाय' के लिए संघर्ष किया। अन्ततः दुष्टों का विनाश, साधुओं की रक्षा एवं धर्म की संस्थापना हो गयी। इस प्रकार जब उनका पुरुषार्थ फलीभूत

हो गया, तब इस लोक से महाप्रयाण कर वे जहाँ से आये थे, वहीं वापस लौट गये।

भगवान् कृष्ण के इस पौरुष की मीमांसा करते हुए कहा गया है—

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला,
शल्य ग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पांडवैः रणनदी कैवर्त्तकः केशवः॥

[महाभारत युद्ध-रूपी जिस नदी में भीष्म और द्रोण ही दो तट थे, जयद्रथ ही जल था, गांधार-नरेश शकुनि ही नीला कमल था, शल्य ही ग्राह था, कृपाचार्य ही तीव्र धारा थे, कर्ण ही नदी तट की हलचल था, अश्वत्थामा और विकर्ण ही घोर मगर-मच्छ थे और दुर्योधन ही भँवर था उस नदी को पांडवों ने इस कारण पार कर लिया कि उनके केवट कृष्ण थे।]

भगवान् श्रीकृष्णका गोपाल-स्वरूप भी उनके पुरुषार्थ का ही द्योतक है, क्योंकि गौ को वेदों में भगवान् का विराट् रूप ही बताया गया है और जीवन-सर्वस्व लगाकर उनका पालन करना श्रीकृष्ण-चरित्र का बहुत बड़ा पहलू है।

वेद ने गौ को 'अघ्न्या' की संज्ञा दी है : जिसका अर्थ है कि किसी भी अवस्था में जिसका वध न किया जाय। अतः जो तथाकथित विद्वान् वेदों में गोमेध का अस्तित्व सिद्ध करते हैं, वे नितान्त अज्ञ हैं। वेद ने गौ को कितने उच्च आसन पर आसीन किया है, यह इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि गौ के शरीर के आधार पर ही उन्होंने परमात्मा के विराट् रूप का वर्णन किया है। अथर्ववेद के ९ वें काण्ड के ७ वें सूक्त में कहा है—

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः
शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥१॥

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यऽधरहनुः ॥२॥
विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः
कृत्तिकाः स्कन्धाः घर्मो वहः ॥३॥
विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णाद्रं विधरणी निवेष्यः ॥४॥
श्येनः क्रोडोऽन्तरिक्षं पाजस्यं बृहस्पतिः ककुद् बृहती कीकसाः ।५।
देवानां पत्नीः पृष्टयः उपसदः पर्शवः ॥६॥
मित्रश्च वरुणश्चासौ त्वष्टा चार्यमा
च दोषणी महादेवो बाहूः ॥७॥
इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥८॥
ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥९॥
धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा
गन्धर्वा अप्सरसः कुष्ठिका अदितिः शफाः ॥१०॥
चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत् ॥११॥
क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वता. प्लाशयः ॥१२॥
क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥१३॥
नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥१४॥
विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् ॥१५॥
देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥१६॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यऽभिधान्यभ्रमूधः ॥१२॥
बृहच्च रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्तां
यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥१३॥
सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि ॥१॥
अभ्रं पीबो मज्जा निधनम् ॥१८॥
अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना ॥१९॥

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥२०॥
प्रत्यङ् तिष्ठन् धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता ॥२१॥
तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥२२॥
मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥२३॥
एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥२५॥
उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति ॥२६॥
संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥३॥
मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥६॥

[उस विराट् गो-रूपी परमात्मा के प्रजापति और परमेष्ठी शृंगस्थानीय, इन्द्र सिर, अग्नि ललाट, एवं गले की घंटी यम है। सोम राजा उस विराट् गौ का मस्तिष्क, द्युलोक एवं पृथ्वी उसके ऊपर और नीचे के जबड़े हैं। बिजली उसकी जिह्वा, मरुद्गण उसके दन्त, रेवती नक्षत्र उसकी ग्रीवा, कृत्तिकाएँ स्कन्ध एवं सूर्य उसका ककुद (डिल्ल) है। विश्व वायु, स्वर्ग लोक, मेघ कण्ठ, लोकों को पृथक्-पृथक् धारण करनेवाली शक्ति उस विराट् पुरुष के कूल्हे हैं। श्येनयाग क्रोड, अन्तरिक्ष पेट, वृहस्पति कोहनी, विस्तृत दिशाएँ उसके गले के मोहरे हैं। देवों की स्त्रियाँ पीठ के मोहरे एवं इष्टियाँ इस विराट् गौ की पसलियाँ हैं। मित्र एवं वरुण बाहुओं के उपरि भाग, त्वष्टा और अर्यमा बाहुओंके अधो भाग, महादेव अगली रानों के निचले भाग हैं। इन्द्राणी भसद (पिछला भाग), वायु पूँछ और पवमान बाल हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों नितम्ब एवं बल ऊरुद्वय (जाँघें) हैं। धाता और सविता अष्ठीवान् पिंडलियाँ, गन्धर्व जंघाएँ, अप्सराएँ

कुष्ठिका (खुर के ऊपरि भाग की उँगलियाँ) एवं पृथ्वी खुर हैं। उस विराट् पुरुष-रूप गौ की चेतना, हृदय, मेधा, बुद्धि यकृत् एवं व्रत उसकी अँतड़ियाँ हैं।

भूख कुक्षि, अन्न-जल वृहदन्त्र एवं पर्वत शृंखलाएँ उसकी क्षुद्र अँतड़ियाँ हैं। क्रोध वृक्क, मन्यु अण्डकोष एवं प्रजाएँ प्रजनन स्थान है। नदी उस विराट् गो-पुरुष की जन्मनाल, मेघ उसके स्तन एवं गर्जनशील मेघ उसके दुधारू स्तन हैं। व्यापक आकाश चर्म, ओषधियाँ लोम एवं नक्षत्र उसके चर्म पर होनेवाले भिन्न-भिन्न चितकबरे चिह्न हैं। देवजन उस विराट् की गुदा, मनुष्य आँत एवं भोजन-शील प्राणी उदर भाग हैं।

अथर्ववेद के ८ वें काण्ड के १० वें सूक्त में कहा है कि इन्द्र उस विराट् रूप गाय के वत्स हैं। गायत्री ही बाँधने की रस्सी है। मेघ ही स्तनमण्डल है। इरावती, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य सूक्त चार स्तन हैं। इससे चार प्रकार का दुग्ध प्राप्त होता है—औषधि, व्यचस्, अपस् और यज्ञ।

अथर्ववेद के ३ रे काण्ड के १४ वें सूक्त में कहा है—हे मनुष्यो! तुम लोग गौओं के (सुषदा गोष्ठेन) सुख से रहनेयोग्य शालाओं का निर्माण करके उन्हें (संसृजामसि) सुख प्राप्त कराओ। (रय्यासं) उन्हें बुद्धिकारक पदार्थ खिलाओ, (सुभूत्या) उनसे अच्छी सन्तान एवं सम्पत्ति प्राप्त करो। अथर्ववेद के ६ वें काण्ड के ७ वे सूक्त में कहा है—मेघ ही उस विराट् पुरुष का मेद एवं सम्पत्ति मज्जा है। अग्नि उसके बैठने का आसन, अश्विनीकुमार उसके खड़े होने के आसन हैं।

उसकी प्राची दिशा इन्द्र एवं दक्षिण दिशा यम है। उसकी पश्चिम दिशा धाता एवं उत्तर दिशा सविता है। ईश्वरीय शक्ति तृण एवं वनस्पति सोम राजा हैं। कृपा-दृष्टि से देखना मित्र एवं व्यापक होने पर आनन्द है। गौ के रूप में यह परमात्मा के विराट् रूप का वर्णन है।

इस प्रकार जो परमात्मा के विराट् रूप को जानता है, वह पशुमात्र में परमात्म-स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करता है। अथर्ववेद के ३ रे काण्ड के १५ वें सूक्त में कहा है—हे गौओ! तुम सब (अस्मिन् गोष्ठे अविभ्युषीः) इस गोशाला में निर्भय होकर रहो। (संजग्माना) परस्पर एकत्रित होकर (करीषिणीः मधु विभ्रतीः) गोबर-गोमूत्र जिनका उपयोग गुणयुक्त है, एवं दुग्ध धारण कर रोगरहित होकर यहाँ रहो। (मया गोपतिना) मुझ गोपति के साथ हे गौओ! तुम (समध्वं) प्रेम के साथ रहो। (अयं वः गोष्ठः) यह तुम लोगों के रहने का सुन्दर स्थान है। (इह पोषयिष्णुः) यहाँ तुम्हारी देख-रेख के लिए उत्तम अधिकारी रहता है।

इसलिए भगवान् कृष्ण अपनी गौओं के साथ रहे और यही गोपालत्व उनके पुरुषार्थ का मूल आधार है।
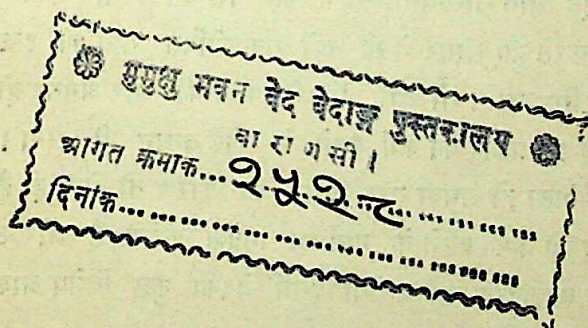
गीता

श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक पुरुषार्थ उनकी गीता है जिसके विषय में कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत् ॥

[सब उपनिषद् ही गौवें हैं, कृष्ण ही उन्हें दूहनेवाले ग्वाले हैं, अर्जुन ही (प्रश्न कर करके उन उपनिषद्-रूपी गौओंको) पेन्हानेवाला बछड़ा है, सुबुद्ध ही उसे पीनेवाले लोग हैं और गीतारूपी अमृत ही वह दूध है।]

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि गीताका सम्पूर्ण कर्मयोग-सिद्धान्त इसी वेद-मन्त्र पर आश्रित है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (ईशा०)

[कर्म करते हुए संसार में सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करो। यह सिद्धान्त न तो तुम्हें विपरीत मार्ग की ओर अग्रसर होने देगा और न इस प्रकार का कर्म करने से कोई बन्धन ही होगा।] क्योंकि कर्म भला हो अथवा बुरा, बन्धन का कारण तो होता ही है। लेकिन वेद जो कर्म करने के मार्ग का निर्देश करता है और उसे कर्म बन्धन का कारण नहीं बताता इसमें वेदका कुछ विशेष आशय अवश्य है।

कर्म करते समय मनुष्य की जैसी भावना होती है और अन्तःकरण पर उसकी जैसी छाया पड़ती है, उसी का नाम पाप अथवा पुण्य है। लेकिन जिन कर्मों को मनुष्य उदासीन दृष्टि से धर्म समझकर बिना भली या बुरी भावना के संपादित करता है और जिसका परिणाम

'सर्वभूत-हित' होता है, उसका भला या बुरा कोई फल नहीं होता। वेद इसी की ओर निर्देश करता है। इसी को निष्काम कर्म कहते हैं और यही गीता का प्रतिपाद्य विषय है।

मनुष्य किसी भी क्षण निष्क्रिय तो रह ही नहीं सकता। कुछ कर्म तो ऐसे हैं, जो स्वयं सम्पादित होते रहते हैं, और कुछ वह स्वयं अपनी भावना से प्रेरित होकर कर्तव्य समझकर करता है। किसी भी कर्म का कोई न कोई फल होना तो निश्चित है, लेकिन वह मनुष्य के अधिकार से बाहर की वस्तु है। उसका अच्छा या बुरा जो भी फल होगा, उसका भोगना निश्चित है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

तो जिस वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं, उसके परिणामके विषय में हम चिन्ता क्यों करें? यह मार्ग यद्यपि प्रशस्त है, लेकिन इसका पालन करना अत्यन्त कठिन है। इसे किस प्रकार व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है, इन्हीं उपायों का भगवान् कृष्ण ने साधारणतया मनुष्य-मात्र के लिए एवं विशेषतया अर्जुन के लिये अपनी गीता में वर्णन किया है जो परिस्थितिवश 'किं कर्म किमकर्मेति'—'क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए' के चंगुल में फँसकर किंकर्तव्यविमूढ हो गया था।

यहीं से गीता का प्रारम्भ होता है। अर्जुन के समक्ष बड़ी विकट समस्या उपस्थित है। एक ओर तो आततायी कौरवों का नाश करके अपनी खोयी हुई राज्यलक्ष्मी प्राप्त करना, दूसरी ओर अपने गुरुजन एवं स्वजनों का वध! जब वह इस द्विविधा में अपने कर्तव्य का कुछ स्वयं निश्चय नहीं कर सकता तब भगवान्को आत्मसमर्पण करके उसने उनसे इसका उपाय जानना चाहा है। प्रारम्भ होता है, अर्जुनके इसी विषाद से। इसे गीता ने 'विषाद-योग' नाम दिया है, लेकिन विषाद 'योग' कहाँ? वह तो 'कुयोग' है। इसी कुयोग के निवारण हेतु भगवान् अगले अध्यायों में सर्व प्रकार के सुयोगों द्वारा कुयोग-रूपी

शत्रुओं से अर्जुन की रक्षा करके उसे कर्तव्य कर्म की ओर अग्रसर करते हैं।

गीता का प्रारम्भ 'कुरु' एवं अन्त 'करिष्ये' में होता है। विषाद-योग का एक महत्त्व और भी है। मनुष्य जब बन्धन में पड़कर आक्रान्त हो जाता है, तब वह उससे मुक्त होने का प्रयत्न भी करता है। युद्ध से पूर्व अर्जुन यदि मोहाक्रान्त न हुआ होता, तो भगवान् के हृदयरूपी समुद्र से गीता जैसे रत्न की उपलब्धि किस प्रकार संभव थी। गीता के निमित्त से भगवान् ने न केवल अर्जुनका ही विषाद दूर किया, अपितु 'किं कर्म किमकर्मेति' की स्थिति में आपन्न प्रत्येक मानव के जीवन में आनेवाले विषाद से मुक्ति दिलाकर उसे आत्मानन्द-प्राप्ति के उच्च मार्गपर अग्रसर करने का भी प्रयत्न किया है।

अर्जुन के विषाद का कारण यह था कि धृतराष्ट्र ने युद्ध से पूर्व पाण्डवों के पास संजय को भेजकर कपटपूर्ण धार्मिक उपदेश देकर उनका मनोबल नष्ट करके उन्हें पथभ्रष्ट करने का षड्यन्त्र किया था। अर्जुन ऋजु (सीधा-सादा निश्छल व्यक्ति) था। अतः संजय के कपट उपदेश का सबसे विनाशकारी प्रभाव अर्जुन के कोमल हृदय पर ही हुआ। अर्जुन ने युद्ध से उपरत होने के लिए भगवान् के सामने जो दो तर्क उपस्थित किये हैं, वे ज्यों-के-त्यों या साधारण परिवर्तन के साथ सञ्जय-यान-पर्व में विद्यमान हैं। युद्ध से विरक्त होने के तीन मुख्य कारण अर्जुन ने भगवान् के समक्ष उपस्थित किये हैं—(१) अपने पूज्य एवं निकटस्थ सम्बन्धियों का विनाश और उसका विनाशकारी परिणाम; (२) उनके मारने में धर्म की हानि; (३) इस अधर्म से बचने के लिए स्वधर्म का त्याग करके कर्म-संन्यास ग्रहण करना। इन तीनों समस्याओं के समाधान के लिए ही गीता का समग्र ज्ञान आवश्यक हो गया।

ऐसे विषम समय में, जब शत्रु युद्ध के लिए सामने उपस्थित हों, अर्जुन को युद्ध से उपरत देखकर, इस स्थिति से उसका निस्तार करने के लिए भगवान् सर्वप्रथम उसे 'सांख्य' शास्त्र के द्वारा जड-चेतन का ज्ञान देना प्रारम्भ करते हैं। 'संख्या' शब्द से सांख्य शब्द का वोध होता है।

पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते अस्मिन् इति सांख्यम्।

(मधुसूदनी, गीता १८-३३)

संख्या—सम्यक् ख्यानम् इति।

[तत्त्वनिर्णय के लिए विचार अथवा आत्मविषयक निश्चित ज्ञान का नाम ही सांख्य है।] अतः, भगवान् सर्वप्रथम जड-चेतन की संख्या निश्चित करके उस तत्त्व-ज्ञान-द्वारा मोह दूर करने की चेष्टा करते हैं क्योंकि अपने पराये का भेद (जो इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है) समझे बिना मोह का सर्वथा निराकरण सम्भव नहीं था।

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं : प्रथम जीवित (अगतासु), द्वितीय 'मृत' (गतासु)। अतः, जो पण्डितजन हैं (पण्डा + इत) जिन्हें अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान है, वे इन दोनों के लिए शोक नहीं करते। क्योंकि ज्ञानी भली प्रकार समझता है कि जीव तो कर्मफल के अनुसार बार-बार जन्म लेकर बार-बार मरता है। अतः इस शरीर का धर्म अथवा स्वभाव तो केवल नाश और उत्पत्ति है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

—गीता २।२७

उसके लिए पण्डितजन शोक नहीं करते। 'शरीर' शब्द का अर्थ ही है 'शीर्यंते' (नष्ट होनेवाला), लेकिन इसमें रहनेवाला आत्मा तो अविनाशी है। वह न जन्म लेता है, न मरता है। बालापन, तरुणा-वस्था, जरा एवं मृत्यु ये सब शरीर के धर्म हैं। अन्तर में रहनेवाला आत्मा सदा नित्य है। अतः, मनुष्य के दो रूप हुए : एक मर्त्य दूसरा अमर्त्य। मनुष्य केवल इसके मर्त्य-रूप मात्र से ही परिचित है, अन्तर

को अमर सत्ता से नहीं। अतः, जो लोग इसकी अमर सत्ता से परिचत हैं, वे इस शरीर के विनाश से दुखी नहीं होते। कठोपनिषद् में आया है :

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५।५

'यह शरीर प्राण और अपान के सहारे नहीं, वरन् उस आत्मा के सहारे जीवित है जिसमें ये दोनों आश्रित हैं।' अतः, इस शरीर का मरनेवाला रूप साकार एवं स्थूल और न मरनेवाला रूप है निराकार और सूक्ष्म। इसलिए, भगवान् कहते हैं : 'अर्जुन ! मैं और ये कौरवादि योद्धागण पहले भी विद्यमान थे, अब भी हैं और आगे भी रहेंगे। इनमें जो नित्य वस्तु आत्मा है, वह न तो शरीरके साथ जन्म लेता है, न मरता ही है और न मरेगा ही। अतः, तेरा यह भ्रम निर्मूल हो गया कि तेरे बाणों से भीष्म आदि आचार्यों एवं कौरवों का नाश होगा।

अब दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि शरीर नष्ट होने पर आत्मा का क्या होता है ? शरीर में आनेवाले बालपन, तरुणाई, जरा एवं मृत्यु का आत्मा पर तो कोई प्रभाव पड़ता नहीं। जन्म-मृत्यु का यह चक्र तो चलता ही रहता है। अथर्ववेद में लिखा है :

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनाँस्तिष्ठति सर्वतो मुखः ॥

(अथर्व० १०।८)

[जीवात्मा सनातन और नित्य है। अतः मनमें प्रविष्ट हो सकनेवाला यही एक देव है। इसलिए मन और बुद्धि में आत्मा विराजमान रहकर बार-बार जन्म लेता और बार-बार मरता हैं।]

वेद ने जीवात्मा के जन्म, वार्धक्य, क्षय और पुनर्जन्मकी तुलना चन्द्रमा से की है। चन्द्रमा में भी जीवकी भाँति षोडश कलाएँ हैं।

जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्ल पक्षकी प्रतिपद्को जन्म लेकर अष्टमी तक बाल एवं पूर्णिमा तक पूर्ण तरुण होकर कृष्णपक्ष की अष्टमीसे क्षीण होता हुआ अमावास्यातक समाप्त हो जाता है और शुक्ल पक्षकी प्रतिपद् से पुनः जन्म ग्रहण करके 'पुनर्णवः' पुनः पुनः जन्म लेकर नवीन-सा हो जाता है; उसी प्रकार जीव भी बार-बार जन्म लेता और मरता रहता है। इसीलिए जीवको 'मातरिश्वा' (माताके गर्भमें रहनेवाला) कहा गया है। अतः, यह निश्चित सिद्धान्त है कि मृत्यु और जन्म इस देहके धर्म हैं। माता, पिता, गुरु आदि सम्बन्ध केवल इस नश्वर देहके साथ ही हैं। वस्तुतः आत्मा न तो किसीका पिता है, न पुत्र, न गुरु और न शिष्य। अतः, जिन सांसारिक सम्बन्धोंके कारण सुख-दुःख मिलता रहता है, वे भी नित्य नहीं हैं। इन्द्रियोंके साथ जब विषयोंका सम्पर्क हो जाता है, तभी सुख-दुःख आदिकी अनुभूति होती है। अतः इनमें मोहग्रस्त न होकर इन्हें सहन कर लेना ही श्रेयस्कर है।

जो धीर पुरुष इन्द्रियजन्य सुखोंमें आसक्त नहीं होता वही वास्तवमें आत्यन्तिक सुखका अधिकारी हो सकता है। पञ्च महाभूतोंके जितने (रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श) विषय हैं, वे जब अपने-अपने गुणवाली इन्द्रियोंके जितने तक सम्पर्कमें आते हैं उतने तक सुख-दुःख का अनुभव होता है। अतः मात्रास्पर्शजन्य सुख भी क्षणिक हैं, स्थायी नहीं। अतः 'तांस्तितिक्षस्व भारत'–इनको सहन करनेमें ही कल्याण है। द्वन्द्वसे उत्पन्न इन हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःखका निराकरण तितिक्षा-द्वारा ही किया जा सकना सम्भव है। जो धीर पुरुष इन द्वन्द्वोंसे व्यथित नहीं होता, वही वास्तवमें अमृतपद पानेका अधिकारी हो सकता है।

अब यदि शरीरके साथ-साथ आत्माको भी उत्पन्न होनेवाला और मरणशील मान लिया जाय तब भी जन्म लेनेवालेकी मृत्यु

निश्चित है और जब कोई भी जीवित प्राणी मृत्युके चंगुलसे वच नहीं सकता तो फिर मरनेवालेके लिए शोक कैसा ?

स्वजनोंके नाशकी अर्जुनकी प्रथम आपत्तिका प्रत्येक दृष्टिकोणसे निराकरण करके अब उसकी दूसरी समस्या 'धर्मनाश' का भी निराकरण करनेका भगवान् प्रयत्न करते हैं।

अर्जुन समझता है कि ऐसा युद्ध करना पाप है। भगवान् कहते हैं कि यह तो धर्मयुद्ध है। आततायी कौरवोंने तुम्हारा न्यायोचित राज्य नहीं लौटाया, उलटे उन्होंने मर्यादाके विरुद्ध तुमपर अनेक अत्याचार भी किये, लाक्षा-भवनमें जलानेका प्रयत्न किया, भद्रताकी सारी मर्यादाएँ तोड़कर द्रौपदीको भरी-सभामें नग्न करनेका प्रयत्न किया, वन जाते समय तुम लोगोंके पुरुषार्थकी खिल्ली उड़ायी, अन्तमें उनके समस्त वैध उपायों-द्वारा केवल पाँच गाँव माँगने पर 'सूच्यग्रम् न दास्यामि बिना युद्धेन केशव' कहकर अस्वीकार कर दिया। ऐसे आततायियों को तुम अपना स्वजन कैसे मानते हो ? ऐसा मानना शास्त्र-नीति से विरुद्ध है।

> नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
> प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ मनु ८।३५१
> समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव।
> निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्मवित् ॥
> माता पिता च भ्राता च, भार्या चैव पुरोहितः।
> नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मेऽनुतिष्ठति ॥

अतः भीष्म, द्रोण आदि जो धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करके केवल 'अर्थस्य पुरुषो दासः' की भावना से युद्ध करने आ पहुँचे हैं, ऐसे अन्यायियों को मारकर जो स्वधर्म का पालन करता है वह मनुष्य कभी पापी नहीं हो सकता। अतः, इस युद्ध को स्वधर्म समझकर, कर्तव्य समझकर युद्ध करो, इससे तुम्हें कभी पाप नहीं लगेगा।

अर्जुन की दूसरी आपत्ति का निराकरण करके अब भगवान् उसको तीसरी समस्या का समाधान करते हैं कि इन स्वजनों को मारकर राज्य भोगने की अपेक्षा संन्यास लेकर भिक्षावृत्ति से जीवन यापन करना अच्छा है। भोगवाद और त्यागवाद ये दो वाद सदा से ही मानव-जीवन में चले आ रहे हैं। भोगवाद दो प्रकार का होता है: एक दृश्य, दूसरा अदृश्य। स्त्री, सुन्दर भोजन एवं ऐश्वर्य का उपभोग तो दृष्ट हैं और स्वर्ग आदि काल्पनिक भोगों की कल्पना अदृष्ट है। इन दोनों से ही उपरत होकर 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः'—यह है वास्तविक संन्यास। अब तुम दोनों में से कौन-सा मार्ग ग्रहण करना चाहते हो? कर्तव्य, अथवा स्वधर्म का त्याग करके कर्म संन्यास लेना सिद्धान्ततः ही निषिद्ध कर्म है। अन्याय के विरुद्ध शस्त्र उठाना क्षत्रिय का स्वधर्म है। पारिवारिक मोह के पीछे राष्ट्रहित की उपेक्षा करना भी तो पाप है। अन्यायियों को यथोचित दण्ड न देने से समस्त समाज दूषित हो जाता है। अतः राष्ट्रहित के लिए व्यक्ति की बलि देनी होगी। मनुष्य-जीवन के चार पुरुषार्थ हैं: १. धर्म, अर्थात् कर्तव्य-पालन; २. अर्थ, धन कमाना; ३. काम, धर्मानुकूल भोग; ४. मोक्ष, स्वातंत्र्य-प्राप्ति। यहाँ तुम मोह के वशीभूत होकर जीवन के फल-चतुष्टयसे मुँह मोड़कर कह रहे हो—'मुझे सुख नहीं चाहिए, राज्य नहीं चाहिए, अंत में मोक्ष अथवा बंधन से निवृत्ति भी नहीं चाहिए।' इसका अर्थ यह हुआ कि जिस कार्य के लिए तुम्हारा जन्म हुआ है, उससे भी विमुख हो रहे हो। तुम्हारे धर्मविमुख होने से अन्य साधारण मनुष्यों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी।

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ —गीता ३-२१

कुटुम्ब के मोह में पड़कर तुम जो राष्ट्रकार्य से मुँह मोड़ रहे हो, इस अधर्म-कार्य का अन्य लोगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? मनुष्य स्वतंत्र

प्राणी नहीं है। समाज के साथ उसका सम्बन्ध है। अतः, समष्टि के लिए उसे अपने व्यक्ति का बलिदान करना होगा। राष्ट्रहित के लिए अपने कौटुम्बिक हित से ऊपर उठना होगा।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे चात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥
—चाणक्यनीति २।१०

अतः, जो मनुष्य

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। —गीता, ६।२९

जो सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखता है, वही विश्व को जानता है। अतः, विश्व के हित के लिए अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थ का त्याग करना होगा। राष्ट्रहित के लिए आततायी कौरवों का वध करना ही होगा। वैयक्तिक रूप छोड़कर विश्व-रूप धारण करना ही होगा। ऐसा करने से कर्तव्य-पालन में न शोक रह जाता है, न मोह। अतः, 'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा' अपने कर्तव्य का पालन करो। 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ'—तुम वीर हो, इस समय 'एतत् त्वयि न उपपद्यते'—तुम्हारे मन की दुर्बलता इस समय तुम्हें शोभा नहीं देती।

संसार की रचना परमेश्वर करता है। वही जीवों के जन्म-मृत्यु की योजना करता है तो तुम कैसे अपने को इनका मारनेवाला मान बैठे हो? तुम्हारे द्वारा इनका वध न होने पर भी क्या ये सदा अमर ही बने रहेंगे? जीवात्मा अमर है। 'अस्य विनाशः कर्तुं कश्चित् न अर्हति' इसका विनाश करने में कोई समर्थ नहीं हैं। 'नायं हन्ति न हन्यते' (कठोप०)—यह न मरता है, न मारता है। 'नाकालतो म्रियते जायते वा' (महा०)—कालके बिना न कोई मनुष्य जन्मता है और न काल के बिना कोई मरता है।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ११।३२

[ये योद्धागण बिना तेरे वध किये भी जीवित नहीं रह सकेंगे ।] जीवात्मा तो मरने से पहले जब दूसरे शरीर का बन्दोबस्त कर लेता है, तब इस शरीर को छोड़ता है—

एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्य । विद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति । —वृहदारण्य क० ४।४।३।४

भगवान् के इन तर्कों के सामने अर्जुन निरुत्तर हो गया, उसके सब संशय मिट गये। उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान हो गया एवं भगवान् से 'करिष्ये वचनं तव'—कहकर वह युद्धके लिए उद्यत हो गया।
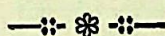
यक्ष-युधिष्ठिर संवाद

पाण्डवों के बनवास-काल में एक बार धर्मराज उनकी परीक्षा लेने के लिये एक मृग का रूप धारण करके एक तपस्वी ब्राह्मण की अरणी का काष्ठ उठाकर नौ दो ग्यारह हो गए। ब्राह्मण ने अजातशत्रु युधिष्ठिर से लौटा लाने की प्रार्थना की, क्योंकि उसके बिना अग्नि-मन्थन करके अग्निहोत्र करने का कार्य रुक गया था। ब्राह्मण की प्रार्थना पर युधिष्ठिर ने भाइयों-सहित मृग का पीछा किया, एवं बड़े कठिन प्रयास के पश्चात् भी उसे पकड़ने में असमर्थ रहे। थक कर सब भाई प्यास से आकुल हो गये। भीम ने पेड़ पर चढ़कर चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखा कि निकट ही सुंदर जल से परिपूर्ण एक जलाशय है। सबसे छोटे थे नकुल, उन्हें पानी लाने की आज्ञा हुई। जलाशय के निकट पहुँचने पर आकाशवाणी सुनाई दी "मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये बिना जल पाने का प्रयास किया तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है।" वाणी की अवज्ञा करके जल पीने का प्रयास करते ही नकुल मृतवत् गिर पड़े। अधिक काल तक न लौट पाने पर युधिष्ठिर ने क्रमशः सहदेव, अर्जुन एवं भीम को भेजा, लेकिन सभीकी वही गति हुई। अतः, चिन्तित होकर स्वयं युधिष्ठिर जलाशय की ओर चले। वहाँ अपने सब भाइयों को विना क्षत-विक्षत मृत देखकर वे भयभीत हो उठे। उसी समय उन्हें भी वही आकाशवाणी सुनाई दी। युधिष्ठिर ने करबद्ध प्रकट होने की प्रार्थना कर के परिचय प्राप्त करना चाहा। उसी समय उन्होंने देखा कि सामने एक विशालकाय यक्ष विद्यमान है। उसने युधिष्ठिर को बताया कि किस प्रकार मेरी अवज्ञा करने पर जलपान की चेष्टा करने के कारण तुम्हारे चारों भाई मृत्यु को प्राप्त हो गये। तुम भी यदि मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये

बिना बल-पूर्वक जलपान का प्रयास करोगे, तो तुम भी इसी गति को प्राप्त हो जाओगे। अतः युधिष्ठिर! तुम प्रथम मेरे प्रश्नों का उत्तर प्रदान करके ही जलपान करो। यक्ष की बात मानकर युधिष्ठिर क्रमशः उनके प्रश्नों का उत्तर देने लगे।

प्रश्न–महत् पद पाने में मनुष्य किस प्रकार सफल हो सकता है ?

उत्तर–तपके द्वारा ही मनुष्य महत् पद प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न–मनुष्य बुद्धिमान् कैसे हो सकता है ?

उत्तर–वृद्धों की सेवा करने पर।

प्रश्न–असत् पुरुषों का क्या आचरण होता है ?

उत्तर–पराई निंदा करना।

प्रश्न–किसान की प्रिय वस्तु क्या है ?

उत्तर–वर्षा है।

प्रश्न–धनियों के लिये क्या श्रेष्ठ है ?

उत्तर–गो-पालन करना।

प्रश्न–संतानैषणा वालों के लिये क्या श्रेष्ठ है ?

उत्तर-पुत्ररत्न की प्राप्ति।

प्रश्न–जीवित होकर भी मृत समान-कौन है ?

उत्तर–जो माता, पिता, कुटुम्बी एवं अतिथियों का यथा-योग्य पोषण नहीं करता।

प्रश्न–पृथ्वी से महान् कौन है ?

उत्तर–माता।

प्रश्न–आकाश से उच्चतर कौन है ?

उत्तर–पिता है।

प्रश्न–जीवित होकर मृत समान कौन है ?

उत्तर–दरिद्र (धनहीन)

प्रश्न–विष क्या हैं ?

उत्तर-कामना विष से भी अधिक हानिकारक है।

प्रश्न–तप क्या है ?

उत्तर–स्वधर्म में सर्वदा निरत रहना ही तप है।

प्रश्न–क्षमा किसे कहते हैं ?

उत्तर–सर्व द्वन्द्वों का सहन करना।

प्रश्न–ज्ञान क्या है ?

उत्तर–परमात्म तत्त्व के यथार्थं बोध की प्राप्ति।

प्रश्न–दया क्या है ?

उत्तर–समस्त प्राणियों को सुखी देखने की भावना।

प्रश्न–मनुष्य का सबसे महान् शत्रु कौन है ?

उत्तर–क्रोध।

प्रश्न–सच्चा साधु कौन है ?

उत्तर–प्राणी मात्र का हित-चिंतक ही सच्चा साधु है।

प्रश्न–आलस्य क्या है ?

उत्तर–धर्म का पालन न करना।

प्रश्न–सच्चा दान क्या है ?

उत्तर–आर्तं प्राणियों की रक्षा करना।

प्रश्न–पण्डित कौन है ?

उत्तर–धर्मज्ञ ही श्रेष्ठ पण्डित है।

प्रश्न–मूर्खं कौन है ?

उत्तर–जो नास्तिक है।

प्रश्न–दम्भी कौन है ?

उत्तर–अहंकार से अपने को बड़ा माननेवाला ही दम्भी है।

प्रश्न–अक्षय नरक भोगने का अधिकारी कौन है ?

उत्तर–सम्पन्न होते हुए भी अपने आश्रितों को 'ना' करने वाला।

प्रश्न–ब्राह्मणत्व क्या है ?

उत्तर–आचार ही ब्राह्मणत्व है।

प्रश्न–वशीकरण मंत्र क्या है ?

उत्तर–प्रिय बोलना ही सबको वश करने की कुंजी है।
प्रश्न–सद्‌गति प्राप्त करने का अधिकारी कौन है ?
उत्तर–कर्मनिष्ठ ही सद्‌गति प्राप्त करने का अधिकारी है।
प्रश्न–सुखी कौन है ?
उत्तर–अऋणी और प्रवास (विदेश-परदेश) में वास न करनेवाला।
प्रश्न–आश्चर्य क्या है ?
उत्तर–नित्य प्रति प्राणियों को काल के गाल में जाते देख कर भी स्वयं को अमर समझनेवाला।
प्रश्न–श्रेष्ठ मार्ग कौन सा है ?
उत्तर–महापुरुष जिस मार्ग का अनुसरण करते हों।
प्रश्न–धनी कौन है ?
उत्तर–सुख दुःख में समान, भूत-भविष्य से निःस्पृह, शांत एवं प्रसन्न-चित्त मनुष्य ही धनी है।

युधिष्ठिर से अपने प्रश्नों का यथेष्ट उत्तर पाकर यक्ष कहने लगा कि तुम अपने किसी भी एक भाई का जीवन माँग सकते हो। युधिष्ठिर कहने लगे—तो भगवन्! माद्री-पुत्र नकुल को प्राणदान देने की कृपा करें। यक्ष ने पुनः प्रश्न किया कि भीम-अर्जुन-सदृश अपने वीर भ्राताओं को छोड़कर नकुल को जीवित क्यों करना चाहते हो ? युधिष्ठिर बोले—महाराज माँ! कुन्ती की तीन संतानों में तो मैं एक हूँ ही। अतः एक संतान माँ माद्री की भी जीवित होनी चाहिये। यक्ष कहने लगे—युधिष्ठिर, मैं तुम्हारा पिता धर्म हूँ। तुम्हारी परीक्षा के लिये ही मैं वन में आया था कि वन के कष्टों से कहीं तुम धर्म से बिचलित नहीं हो गये। तुम्हारी ऐसी धर्म-निष्ठा देखकर मै अत्यत प्रसन्न हूँ। अतः तुम्हारे सब भाइयों को पुनर्जीवित किए देता हूँ।' ऐसा कहकर यक्ष अदृश्य हो गये।

महाकवि देव और उनकी रचनाएँ

महाकवि देव का जन्म उनके स्वरचित ग्रन्थ भाव-विलास के अनुसार विक्रम संवत् १७३० में हुआ था। १६ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने सं० १७४६ में इस ग्रन्थ की रचना की थी।

"सुभ सत्रह सौ छियालिस, चैत्र सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देव-मुख देवता, भाव-विलास सहर्ष॥"

निवास स्थान :—इटावा के 'अस्तल मुहल्ले में उनका वास स्थान था।' लेकिन राव छत्रसाल के इटावे से 'पुरावली' चले जाने के कारण देवजी भी 'पुरावली' चले गये थे। इनके शेष कुटुम्बी इटावे से ३२ मील दूर कुसुमरे गाँवँ में जा बसे थे, जहाँ इनकी वंश-शाखा आज भी विद्यमान है।

वंश :—कान्यकुब्ज द्विवेदी ब्राह्मणों की एक शाखा दुसरिहा है। देवजी ने अपने ग्रन्थ भाव-विलास में अपने को द्योसरिया ही लिखा है।

"द्योसरिया कवि देव को नगर इटाये वास।
जोबन नवल सुभाव रस, कोन्हों 'भाव-विलास'॥"

इनके पिता का नाम पं० वंशीधर था जैसा कि "शृंगार-विलासिनी" में उन्हों ने स्वयं लिखा है :—

"देवदत्त कविरिष्टका, पुरवासी स चकार।
ग्रन्थमिमं वंशीधर-द्विजकुल घुरं बभार॥"

---

१. शिवसिंह-सरोजकार ने इनका जन्म संवत् १६६१ एवं "भारत के धुरन्धर कवि" के लेखक ने संवत् १६४१ तथा हिन्दी फाइनल रीडर में सम्वत् १६७३ लिखा है, किन्तु ये सब अप्रामाणिक हैं।

२. मिश्रबन्धु एवं ईश्वरीप्रसाद आदि ने भ्रमवश उन्हें सनाढ्य ब्राह्मण माना है।

उनका आस्पद "दीक्षित" था जैसा कि उन्होंने 'लक्ष्मी-दामोदर' स्तोत्र में लिखा है—

"कृता सम्यक् पद्यैर्जगति ललितं दीक्षितपदम्"

आज भी दुसरिहा ब्राह्मणों में दीक्षित पाये जाते हैं।

गोत्र : इनका गोत्र काश्यप था।

अध्ययन : होनहार बिरवान के होत चीकने पात" वाली उक्ति के अनुसार कवि देव बाल्यावस्था से ही अद्‌भुत प्रतिभाशाली थे। हिन्दी, संस्कृत के अतिरिक्त ज्योतिष, मंत्र-शास्त्र, वृक्षायुर्वेद आदि विषयों का भी उनको पर्याप्त ज्ञान था। अन्यथा १६ वर्ष के अल्प वय में ही 'भाव-विलास' जैसे सर्वाङ्गसुन्दर रसपूर्ण ग्रन्थ की रचना करने में वे कैसे समर्थ हो सकते थे। उनका न केवल ब्रजभाषा पर अपितु संस्कृत काव्य-रचना पर भी उतना ही अधिकार था। शृङ्गार-रस-पूर्ण, अर्थ-गाम्भीर्य से ओतप्रोत प्रौढ कवित्व उनकी अपनी विशेषता थी।

"गम्यतामर्थलाभाय क्षेमाय विजयाय च"

इस नीति-वाक्य के अनुसार उन्होंने अर्थ-प्राप्त्यर्थ अनेक स्थानों का भ्रमण किया। औरंगज़ेब का पुत्र आज़मशाह इनकी "अष्टयाम" नामक कृति को सुनकर बड़ा प्रभावित हुआ था। आज़मशाह स्वयं भी कवि था, अतः वह कवियों का सन्मान भी करता था। कोंकण-विजय के समय कवि देव, आज़मशाह के साथ युद्ध क्षेत्र में भी गये थे, अतः मार्ग में उनको भिन्न-भिन्न प्रान्तों की वेश-भूषा, आचार, व्यवहार के गम्भीर अध्ययन का भी अवसर मिला था। आपस के भ्रातृ युद्ध में जब आज़मशाह मारा गया तब विवश होकर कवि देव को वहाँ से

---

१. संस्कृत में श्रृंगार-विलासिनी जैसे अनुपम नायिका-भेद ग्रन्थ के रचयिता देव को लाला भगवानदीन ने भ्रमवश "बिहारी और देव" नामक अपने ग्रन्थ में संस्कृत न जाननेवाला सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

विदा होना पड़ा। इन्हीं आज़मशाह को प्रसन्न करने के लिये इन्होंने संस्कृत में हिन्दी छन्दों में नायिका-भेद के अनुपम ग्रन्थ की रचना की थी जिसकी टक्कर का दूसरा ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में उपलब्ध नहीं है। हिन्दी छंदों में यह एक ही संस्कृत-ग्रन्थ अबतक दृष्टिगोचर हुआ है।

वहाँ से चलकर देहली के तत्कालीन रईस पातीराम कायस्थ के पुत्र सुजान मणि के यहाँ इन्होंने आश्रय पाया। पातीराम जी फ़ारसी के अनन्य विद्वान् एवं काव्य-मर्मज्ञ थे। अतः इन्हें प्रसन्न करने के लिये देवजी ने "सुजान-विनोद" नामक काव्य की रचना की थी। ईर्ष्यावश मुअज्ज़मशाह ने इनको यहाँ भी नहीं ठहरने दिया। अतः, जिला बुलंदशहर के अन्तर्गत दादरी के तत्कालीन राजा भवानीदत्त वैश्य के यहाँ वे आश्रित हुए और वहाँ उन्होंने अपनी सरस काव्य कृति 'भवानी-विलास' की रचना की। जन्मभूमि से पृथक् न रह सकने के कारण इन्होंने भरतपुर-नरेश महाराजा जवाहर सिंह की सेवा में उपस्थित होकर उनकी प्रशंसा में निम्न छंद पढ़ा :—

एकलंग 'तैमूर' सुना है चकत्ता लोहलत्ता,
तेजतत्ता लौं सुना है तेज ताही का।
दूजा लंग संगर उन्यारा छत्रपति प्यारा,
छीन लिया छत्र जिन छत्र पातसाही का॥
तीजा लंग 'बंगस' वज़ीर जा भगाया देव,
चौथा तू जवाहर है 'सूरज' सवाई का।
दिल्ली नगरी के डगमगरें पुकारें लोग,
लोहा लँगड़े का यारों गज़ब खुदाई का॥

वहाँ से सत्कृत होकर वे रुरुगंज के राजा भोगीलाल के आश्रित हुए। राजा भोगीलाल स्वयं अच्छे कवि थे, एवं कवियों का यथोचित आदर भी करते थे। अतः महाकवि देव का उनके यहाँ अत्यधिक सम्मान हुआ। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, कारण :—

"कुनद हमजिंस बाहमजिंस पर्वाज़।
कबूतर बा कबूतर, बाज़ बा बाज़॥"

[एक स्वभाववाले लोग एक साथ रहते हैं। कबूतर के साथ कबूतर और बाज़ के साथ बाज़ उड़ता है।]

वहाँ रहकर उन्होंने 'रस-विलास' जैसे प्रौढ काव्य की रचना की लेकिन दुर्भाग्यवश राजा भोगीलाल का अल्पायु में ही शरीरपात हो गया। अतः, उनको वहाँ से भी अन्यत्र जाना पड़ा।

वहां से वे गोहद के राणा बहादुर के यहाँ चले गये। वहाँ के 'राजा बखत सिंह' काव्य-रसिक नृपति थे अतः वहां देव जी का सम्मान होना स्वाभाविक था। समुचित आदर पाकर इसी प्रवास काल में उन्होंने 'बखत-विलास' और 'बखत-विनोद' नामक दो सुन्दर काव्यों की रचना की। राजा साहब की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र माधव सिंह जी ने भी देव का पितृ-तुल्य समादर किया। इस सम्मान के बदले उनके प्रीत्यर्थं उन्होंने 'माधव-गीत' नामक राग रागिनियों से पूर्ण एक गीति-काव्य की रचना की।

वहाँ से चलकर ज़िला इटावा में 'ओरैया' नामक स्थान के एक धनी काव्य-मर्मज्ञ के यहाँ देव ने आश्रय पाया और वहाँ उन्होंने 'भवानी-विलास' नामक एक सुन्दर काव्य रचा।

वहाँ से भी मनोच्चाटन होने पर वे फफूँद जिला इटावा के कुशल सिंह सेंगर के आश्रित हुए और आश्रयदाता के प्रीत्यर्थं उन्होंने 'कुशल-विलास' नामक ग्रन्थ की रचना कर डाली। वहाँ भी अनुकूलता न होने से 'क्योंटरा' जिला इटावा निवासी सेठ उद्योत सिंह जी सेंगर के यहां चले आये। वहाँ रहकर उन्होंने 'प्रेम-चन्द्रिका' नामक एक सुन्दर काव्य की नींव डाली।

इस समय तक महाकवि देव की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। अतः स्थान-स्थान से इन्हें आने का निमंत्रण मिलने लगा। यहाँ से वे राव खड्गराव जी के पुत्र राव छत्रसाल के यहाँ आश्रित हुए।

यहाँ भी जब मन नहीं लगा तो ये परम भागवत महंत मान सिंह के यहाँ चले गये और उनका आदेश पाकर एवं उनके प्रसन्नार्थं उन्होंने अनेक देवी देवताओं के स्तोत्रों की रचना की। रघुनाथ-लहरी में तो उन्होंने महन्त जी के नाम का भी उल्लेख किया है। 'शिव-पंचाशिका' तो उन्होंने बटेश्वरनाथ महादेव के प्रसन्नार्थं रची थी। इसकी कविता अत्यन्त भक्ति-परक एवं रस-पूर्ण है।

यहाँ भी अनुकूलता न होने के कारण वे 'पुरावली' के राजा उद्योत सिंह के यहाँ चले आये और यहाँ अपना अंतिम समय बड़े आमोद प्रमोद से व्यतीत कर रहे थे कि सहसा अस्वस्थ हो गये। यद्यपि राव छत्रसाल ने स्वास्थ्य-सुधार के लिये इनको यमुना के किनारे गडी नामक एक स्वास्थ्यप्रद स्थान में भिजवा दिया था—फिर भी आसन्न मृत्यु होनेपर उन्होंने अपना अंतिम काव्य-'वृत्तमञ्जरी' लिखकर लेखनी को विश्राम दिया और अपनी अमर कीर्त्ति छोड़कर विक्रम संवत् १८४१ में १११ वर्ष की लम्बी आयु में इहलीला समाप्त की। कुछ लोगों को उनकी इतनी दीर्घायु पर शंका है। लेकिन स्वयं उनके निम्नलिखित पद्य से यह शंका निर्मूल हो जाती है।

भौजंगी तिथि नेत्र दन्ति शशि भिश्रू श्रीमत्शुभे संमिते,
वर्षे विक्रम भास्करा दिहगते, मासोत्तमे श्रावणे,
एकायां भृगुवासरे विलिखितं सम्यक्च पाठाय च,
श्रीमद्दीक्षित देवदत्त कविना शास्त्रं जगद्भासकम्।

भाषा-परिचय

महाकवि देव की कविता में प्रायः शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। स्थान-स्थान पर उसमें उर्दू-फ़ारसी एवं संस्कृत-अपभ्रंश आदि भाषाओं के साथ डिंगल और पिंगल भाषा के शब्दों का भी प्रयोग है। इनकी भाषा शील-गुण-सम्पन्न है। सर्वसाधारण के दैनिक व्यवहार में आने वाले मुहावरे एवं कहावतों का बाहुल्य है। उनकी प्रयुक्त

कहावतें भी शिक्षाप्रद हैं। अतः पद-लालित्य के साथ-साथ अर्थ-गौरव एवं प्रसाद गुण की भी कमी नहीं है। सरस भावना, उत्कृष्ट उपमाएँ, कोमलकान्त-पदावली, पाठक के हृदय को बलात् आकर्षित कर लेती हैं। मनोहर शैली, दोष-रहित काव्य-रचना महाकवि देव-जैसे मेधावी के लिये ही संभव थी। नायक-नायिकाओं की प्रेम-तल्लीनता की चरम सीमा, संयोग-वियोग-जनित भावनाओं का सजीव वर्णन, चार प्रकार के नायक और ३८४ प्रकार की नायिकाओं का विशद चरित्र चित्रण एवं उनमें हास-विलास का जैसा सजीव वर्णन देव के ग्रन्थों में पाया जाता है वैसा अन्यत्र पाना दुर्लभ है। काव्य में उनकी वर्णन-शैली सर्वांगपूर्ण है। 'रस विलास', 'जाति-विलास' एवं 'सुजान-विनोद' में पाठक इसका रसास्वादन स्वयं कर सकते हैं। इतना चित्ताकर्षक वर्णन अन्य किस कवि की कविता में उपलब्ध हो सकेगा? अन्य कवियों की भाँति इन्होंने अपनी नायिका के केवल रूप मात्र का ही वर्णन नहीं किया, अपितु उसको परिधान भी पहनाया है और इस कार्य में वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं। मुग्धा-भेद के वर्णन में तो कमाल ही कर दिया है। प्रास, अनुप्रास का प्रयोग अत्यंत उत्कृष्ट रूप में किया गया है। यद्यपि इनकी ब्रजभाषा कहीं कहीं दुरूह भी हो गयी है—फिर भी अनुसंधान, स्फूर्ति एवं उपालम्भ बड़े ही हृदय-ग्राही हो गये हैं। उदाहरणार्थः—

'गूजरी'! ऊजरे जोबन को कछु मोल कहो दधि को तब देहों,
'देव'! अहो इतराव न होइ, नहीं मृदु बोल निमोल बिकैहों,
मोल कहा! अनमोल बिकाहुँगी, ऐंचि जबै अधरारस लैहों,
कैसी कही! फिर तो कहु 'कान्ह' अभै कछु होहुँ कका कि सौं कैहों।

मेरे गिरिधारी गिरि धर्‌यो धरि धीरजु,
अधीर जनि होहु अंगु लचकि लुरकि जाय।
लाड़िले कन्हैया, बलि गई बलि मैया,
बोलिल्याऊँ बलभैया, आय उरपै उरकि जाय।

रोकि रहि नैंकु जौलों-हाथ ना पिराय देखि,
साथ संगु रीते अँगुरीते न बुरकि जाय।
पऱ्यो ब्रज बैर बैरी-बारिद बाहन बारि,
बाहन के बोझ हरि बाँह न मुरकि जाय।

"प्रकृति नहीं नर है पुरुष रंग-भूमि संसार"

इसी रंगशाला से कवि अपने काव्य के लिए सामग्री संचय करता है और उसको अनेक रंग देकर सजाता है। कवि स्वच्छंद है, स्वतंत्र है, मुक्त है। चित्रकार की भाँति कवि भी अपने काव्य को भिन्न-भिन्न शब्दों की रेखाओं से चित्रित करता है। आवश्यकतानुसार वह टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़ शब्द-रेखाओं का प्रयोग भी करता है अतः कभी-कभी साधारण मनुष्यों की दृष्टि में उनका काव्य दोषमय भी प्रतीत होता है लेकिन कवि इन सब बंधनों से मुक्त है, अपने काव्य में सौंदर्य प्रदर्शन करने के लिये वह प्रकृति-प्रदत्त फल, फूल, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि की उपमाएँ भी अपनी नायिका के वर्णन में प्रयुक्त करता है और इतनी ऊटपटाँग उपमाओं से भी सौन्दर्य-वर्णन में चार चाँद लग जाते हैं।

शृंगार-विलासिनी

उपर्युक्त ग्रन्थ नायिका-भेद का संस्कृत में उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें हिंदी के पाँच प्रकार के छंदों—दोहा, सोरठा, छप्पय, कवित्त और सवैया का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है। वह अभूतपूर्व है और अत्यन्त दुर्लभ है। गीतगोविंद के पश्चात् संस्कृत में ऐसी कोमल-कान्त-पदावलीवाला अन्य ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं हुआ। नायिका का वियोगावस्था में मूर्च्छावस्थान्तर्हित मरण का दिग्दर्शन, प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न दोनों प्रकार के शृंगार का विवेचन, एवं मुग्धा के तेरह भेद, दस अवस्था, एवं तीन प्रकार के मान का वर्णन वर्णनातीत है। सवैये एवं घनाक्षरी जैसे सरस पदों का अपनी कविता में चुनाव अत्यंत

मनोहारी है। लीला, हास, रास, विलास के वर्णन में गूढ दृष्टि वर्णनातीत है। प्रौढा में प्रेम की हीनता एवं पाँच प्रकार के प्रेम का परमोत्कृष्ट प्रदर्शन परिलक्षित होता है। प्रेम के शुद्ध स्वरूप के वर्णन में वे अच्छे अच्छे वैष्णव भक्त कवियों की कोटि में पहुँच गये हैं। इनका प्रेम तत्त्व का वर्णन अत्यंत मधुर एवं हृदय-ग्राही है। यद्यपि इनका काव्य आकण्ठ शृंगार रस-परिपूर्ण है तथापि इन्होंने प्रेम के वर्णन में रस को अनरस तथा भाव की विभाव नहीं होने दिया। जिस विषय का भी इन्होंने वर्णन किया है बड़ा सजीव किया है। यद्यपि इन्होंने सर्वदा अपने आश्रय-दाताओं की छत्रच्छाया में अपनी रुचि के अनुकूल कविता की है, फिर भी काव्य की कसौटी पर वे खरी उतरेंगी। नये-नये भाव, नयी नयी उपमाएँ, ब्रजभाषा की लोकोक्तियों के सुन्दर प्रयोग, सुन्दर आलंकारिक भाषा, कविता में प्रास-अनुप्रास का समुचित प्रयोग, गुण, लक्षण, ध्वनिभाव, व्यंजना, रस इन सबका इनके काव्य में इतना सुन्दर प्रयोग है मानो किसी चित्रकार ने अपने चित्र को सजीव बना दिया हो। इनकी प्रतिभा की चरम सीमा, रस-विलास, सुजान-विनोद, भवानी-विलास एवं भाव-विलास में दृष्टिगोचर होती है।

यद्यपि कवि देव हित हरिवंश जी के शिष्य थे, लेकिन काव्यों में उन्होंने कहीं ऐसा प्रकट नहीं होने दिया कि वे किसी सम्प्रदाय विशेष में ही विश्वास करते हैं। अपने काव्यों में उन्होंने सभी देवी देवताओं की समान रूप से स्तुति की है।

देव का अध्ययन बड़ा विस्तृत था। उनकी पर्यवेक्षण-शक्ति बड़ी सूक्ष्म थी, यही कारण है कि अपने काव्यों में सभी विषयों पर वे आचार्यवत् लिख सके। हृदय-ग्राहिणी उक्तियों, लोकोक्तियों, अन्योक्तियों का इतना अधिक प्रयोग इनके काव्य में है कि उसमें उच्च कोटि के ध्वनि-व्यंजक काव्य का सा आनन्द प्राप्त होता है।

कहीं कहीं कुछ काव्य-दोष भी स्वभावतः आ गए हैं—

(१) इनके नग्न शृंगार के वर्णन में कहीं कहीं अश्लीलता का पुट दृष्टिगोचर होता है।

(२) बिहारी की भाव-छाया ही नहीं कहीं कहीं तो पद भी ज्यों के त्यों ले लिए हैं।

(३) पुनरुक्ति दोष भी कहीं कहीं परिलक्षित होता है।

(४) शब्दाडम्बर अधिक है—कहीं कहीं काव्य तुकांत-रहित हैं।

(५) कहीं कहीं बेतुके तुकान्त का प्रयोग भी है जिनका कोई अर्थ नहीं होता।

गुणों में दोषों का पाया जाना तो स्वाभाविक है। निर्दोष तो मनुष्यकृत रचना हो ही नहीं सकती।

भरतपुर-निवासी मेरे स्वर्गीय मित्र पं० गोकुलचन्द्र जी दीक्षित ने, जो स्वयं इटावा के पास के रहनेवाले थे, महाकवि देव के निम्नलिखित ग्रन्थ उनके वंशजों से प्राप्त किये थे, जो अभी उनके पुत्रों के पास हैं। यह सूची अब तक के प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त है—

(१) शृंगार-विलासिनी (संस्कृत)
(२) श्री लक्ष्मी-दामोदर-स्तोत्र
(३) शक्ति-विलास
(४) कालिका-स्तोत्र
(५) मनोभिनन्दिनी
(६) बखत-विलास
(७) महावीर मल्लारि-स्तोत्र
(८) रागविलास
(९) रघुनाथ-लहरी
(१०) बखत-बिनोद
(११) माधव गीत
(१२) श्री लक्ष्मी-नृसिंह-स्तोत्र
(१३) वरुणाष्टक
(१४) शुक्राष्टक
(१५) साम्बशिवाष्टक
(१६) नृसिंह-चरित्र
(१७) प्रज्ञान-शतक
(१८) श्री लक्ष्मी-नृसिंहाष्टक
(१९) वृत्त-मञ्जरी
(२०) बखत-शतक

उदाहरणार्थ अनेक ग्रन्थों के उद्धरण नीचे दिये जाते हैं।

१. शृङ्गार विलासिनी (परिचय)

देवदत्त कविरिष्टका, पुरवासी स चकार।
ग्रन्थमिमं वंशीधर-द्विजकुल धुरं बभार॥

●

२. रचनाकाल

श्रावणे बहुल नवमी तिथौ, रेवानौ रेवती धृति युते।
कवि देवदत्त उदिते रवा बगमापय दहनि स्तुति॥

३. मंगलाचरण (छप्पय)

सुभग सिद्धि, शुभ वृद्धि, सकल संतत सुखकारिणि।
दुर्गति दुर्ग दुरन्त दुःख दारुण दर दारिणि॥
शरणागत नैपुण्य पुण्य कारुण्य विहारिणि।
जगदनिरुपत्ति रूप भूप भूप द्युति हारिणि॥

४. दोहा

रसिक मुदे च विलासित मनः परानंदाय।
शृंगारैक विलासिनी, क्रियते सुकविहिताय॥

सवैया (मुग्धा)

ममैव किमु भ्रमतो नयने, भवती मिह पश्यत एव सदापि,
तवालि तनौ किमपि प्रतिभाति, दिन द्वयतोन्य दशेवत दापि,
दृशश्चलता न वचस्कलता, गमनस्थलता जलता न पदापि,
तथापि विलक्षण सच्छविरेव, सखि! स्फुरति त्वयि कापि कदापि।

●

शक्ति-विलास (संस्कृत का अनुपम काव्य)

पूर्वं सप्त त्रिलोचनेत्र रजनीनाथोन्मिते हायने
पौषे मासि सिते दिले गिरि सुता तिथ्या गुरोर्वासरे
श्री मद्दीक्षित देवदत्त कृतिना सम्यक्कृता पूर्णतः
मागात्सर्वं सुखद प्रविमलः शक्तिविलासः शुभः।

बखत-विलास (रचनाकाल)

चन्द्र गुन बारन मयंक मिति बीती सम,
विक्रम दिनेस तें सुमास इव जँच्यो है,
बिपद सुपच्छ तिथि पाँचै ससिवार ते
सुनासीर को नखत नभ जोतिन खँच्यौ है
सुभदिन ऐसो पाइ मन हुलास बहु छंद नीके।
अतुल प्रबंध कवि देव इमि सँच्यौ है
आस करि बखत नरेस की सुवास ग्रन्थ,
"बखत बिलास" देवदत्त कवि रच्यौ है।

भावविलास

साज सिंगारनु सेज चढ़ी तबहीं ते सखी सब बुद्धि भुलानी।
कंचुकी के बँद टूटत जाने न, नीबी की जेर न छूटत जानी।
ऐसी बिमोहित ह्वै गई हैं जनु जानति राति के मैं रति मानी।
साजी कबै रसना रस केलि में बाजी कबै बिछियान की बानी।

•

बाजी हरै रसना रसकेलि में, कोमल कै बिछुआन की बानी।
प्यारी रही परजंक निःशंक ह्वै, प्यारे के अंक महा सुख मानी।
ऊँचे पग चाप चढ़ी उतरी कहुँ, आवत लोगनु जात न जानी।
छोरि छिपाइ न खोलि हियो, कवि देव दुहूँ मिलिकै रति मानी।

•

मोहन माइ ! भये मथुरा-पति, देव महामद सों मद मातो,
परे अब कूबरी के कर में हरि, यातौ कियो हमसों हितु हातो।
गोकुल गाँव के गोप गरीब हैं, वासु बराबर ही को इहाँ तो।
बैठि रहो सपनेहु सुन्यो कहूँ राजनि सों परजानि को नातो।

•

नेह सों नीचे निहार निहोरनि नाहीं कै नाह की ओर चितैबो,
पोठि दै मोरि मरोरि कै दीठि, सकोरिकै सौंह सों भौंह चढ़ैबो,
प्रीतम सों कविदेव रिसायकै पाइ लगाय हिये सौं लगैबो,
तेरी री मोहि महा सुख हेत, सुधारस हूँते रसीलो रिसैबो।

दार्‍यो लै रदन सुधा सदन बदन लियो
भृकुटि मदन धन चँपे लेत गात है।
दृग मृग लीने मृगराज कटि, केकी कच
कुचनि कलस कुम्भ लेत सकुचात है।
कोकिल बचन लेत रंभा जुग जंघा चाहै
करन प्रवाल औचकरन जल जात है।
प्रोतम पुकार लाग्यो प्यारी सुन सौत कहाँ,
हहा चितै देखु चोर चोरी करै जातु है।

•

आगे धरि अधर पयोधर सधर जानि
जोरावर जंघनि सघन लटे लचि के
बार बार देत बकसीस जित वारन को
बारनि को बाँधे जे पिछारि डरे बचि के
उरुनि दुकूल ह्वै उरोजन को फूलमाल
ओढ़नि ओढ़ाये घने घाई खाय पचि के
देव कहै आज यह जीत्यो है अनंग रिपु
पिय संग संगर सुरति रंग रचि के।

बखत-बिलास (अप्रकाशित)

बखत रिझावन तिय चली, हिय सजि बैन रसाल।
तन सजि भूषण को अधिक, सो ही दीधित काल॥
सकल तियन को बखत पिउ, उर में बसत निदान।
प्यारी किमि रस अधिक दै, छाई प्रेम विधान॥
कहा करौ बखतेश बिनु छाती कँपै निदान।
निसि कारी निसि सी घटा, चढ़ो प्रबल असमान॥
बखत रसिक सों रसिकई कीन्हीं सुरत प्रसंग।
अब न जानि को छबि अये, तब ते दूनी अंग॥
नवल साज भूषित नवल, तिय बखतेश प्रसंग।
लहति कहा आदर भली, फली सुरति रन अंग॥

भवानी-विलास (अप्राप्य)

दूलह नील नई दुलही उलही उर नेह की बेल नवेली
नैन दुहूँ के चलैं चित चैन चुकैं न रुकैं न झुकैं पट भीने
रंग रली उर लीने उछाह, अली मुस्काइ चली परवीने
प्रेम की सम्पति दम्पति देवहिं लै हिय खोलि मिले रसभीने।
रावरे रूप लला ललचानिये जानी न काहू बिकानिय ऐसी
है सत हीन सताई न तो तुम संगति ते उतरी उत तैसी
न्याउ निबेरो न हो यह नेह को, जानत हो तुमही हम जैसी
देखिबे ही को भरैं सिसकी, तिसकी खिसकी चरचा कहु कैसी

●

रस-विलास

यह ग्रन्थ स्त्रियों के आठों अंग, जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वय, प्रकृति और सत्त्व रूपी सांगोपांग वर्णन-पूर्ण ग्रन्थ है।

यथा :—

दम्पति एक ही सेज परे, पग पींडुरी दाबि दुहूँ को रिझावति,
आपने ऊँचे उठोहे कठोर उरोजनि कोमल ऐंड़ी मिलावति।
भौंहैं अमेठि रहै ठकुराइन ठाकुर कै उर काम जगावति,
लौंडी अनोखी लड़ावति लाल, कि पाइँ पलोटति चाहैं चलावति।

●

काम की कुमारी परम सुखकारी यह,
जाकी है कुमारी महा भाग वा जन के।
सलज सुशील सुलुनाई की सलाका सैल
सुता सों सलोनी बैन बीना की भनक के।
एहो अबहीं तैं बन देवी ऐसी देखी 'देव'
देवी तै अगन गुन गान ह्वै जनक के।
कनक कनक तन तनक तनक मन,
झनक मनक कर कंकन कनक के।

कुशल-विलास (अप्रकाशित)

बैठी कहा धरि मौन भटू रँग भौन तुम्हें बिनु लागति सून्यो,
चातक ज्यों तुम ही रनुदेव चकोर भयो चिनगी करि चून्यौ,
साँझ सुहाग की माँझ उदौ करि, सौति सरोजन को वन फून्यो,
पावसते चलु कीजिये चैत, अमावसते चलि कीजिये पून्यो।

●

लाज की गाँठ गई घुटिके नहिं गाँठत काहु छुटै न छुटाये,
आठहुँ जाम उतै उठि धावत साठौं घरी सुठई है सुठाये,
ठान, कुठान अठान ठनी, ठहकीली रहे गुरु लोग रुठाये,
ऐंठति ओठ उठी अँगिया अठिलात भरे भुजमूल उठाये।

●

होति अनूढा-रस विवस नवल छैल छबि देखि।
ऊढ़ा गूढ़ विमूढ़ मन प्रेमारूढ़ विशेखि।

जाति-विलास

नासिका कीर लकीर से नैननि, नीर से छाँड़ति है पिकवैनी,
भौंर अभीरन भीरनि भीतरु, भीर सुभाइ उभै रस दैनी,
धीरन देव अधीरन होतु, चितौनि चितौत अधीरज पैनी,
पीर हरे करबीर की कामिनि, धीरज से मुख नीरज नैनी।

•

देवता दरस पति देवता सरिस देव,
एहि बिधि औरो नहिं देव नर नागरी
सहन सुभरी सन्त सुचि रुचि शीलमन्त
करि मल विमल मन शोभा सुख सागरी
चाहै मन मानको सराहै सदा प्रीति महि,
प्रीति को निबाहै रति रीति अति आगरी।
देव देस द्रविडकी सुन्दरी निविड नेह,
गुननु अनूप रूप ओपनि उजागरी।

•

आज़मशाह के आश्रय में निर्मित—

यथा :— **अष्टयाम** **(द्वितीय रचना)**

सब अंग अँगोछि उरोजनि पोंछिकै अंबर चारु हरे पहरे,
गहने गहि नूतन मोतिन के, पहले करि अंगनते बहिरे
कवि देव कह्यो दिनसो तिय दीन ह्वै दीरघ ह्वै न हहा रहि रे
सकुची अब पूछन कंत लगे इन ओठनि दंत लगे गहिरे।

•

तोरि तनी अपने कर कंचुकी डारि उतारि उतै पियही है
ऐपन पींडिसी मीडित त्यों, तिय सौं लपटी लपटे हि रही है
ज्यों ज्यों पिये पिय ओठनिको रसदेव त्यों बाढ़ति प्यास सही है
चंपक पात से गातन में, अब घातिन देत अघात नहीं है।

•

रूप अनूप है एक तुही तिय तोसी न और मही महियाँ
कहु होय हमारे कहा कहिये, तब तो हम सो मघवान हिया
परजंक परे दोऊ अंक भरे सुघरे सिर दोऊ दुहूँ बहियां
सुनि यों भई भावती के मुँह की, छिन में सुखबादरकी छहियाँ।

•

हौंसु गवाँइ करी सुख केलि, तिया तबही सब अंग सुधारे,
तानि लियो पट घूँघट के, झलकै दृग लाल भरे झपकारे,
देवजू देख लगे ललचान लला के कपोल कँपैं पुलकारे,
मार मनो सरसार के रोसके एक हि वार हजारक मारे।

काव्य-रसायन (अप्राप्य)

बालम बिरहु जेहि जान्यो ना जनम भरि,
बरि बरि उठे ज्यों ज्यों बरसे बरफराति
बीजनु डुलावति सखीजन त्यों शीतहू में,
सौति के सराप तन तापनि तरफराति
'देव' कहै साँसनु ही अँसुवा सुखात मुख
निकसै न बात ऐसी सिसकी कै सरफराति
लोटि लोटि परति करोंटि खटपाटी लै लै
सूखे जल सफरी ज्यों सेज पर फरफराति।

रस अंकुर थाई विभाव रस के उपजावन।
रस अनुभव अनुभाव सुसात्विक रस झलकावन।

छिन छिन नाना रूप रसनि संचारी उझकै।
पूरन रस संयोग विरह रस रंग समुझ कै।

●

ये होय नायिका पिकन में, रत्यादिक रस भाव षट।
उपजावत शृंगारादि रस, गावत नाचत सुकवि नट।

●

भाषा प्राकृत संस्कृत देखि कविन को पंथ।
देवदत्त कवि रस रच्यो काव्य-रसाइन ग्रन्थ।

बखत-बिनोद (अप्रकाशित)

गुरु गणपति श्री शारदा, सकल देव सुख मूल,
श्री बखतेश नरेश पर, सदा रहो अनुकूल।

●

उमड़ी घटा चहुँ ओर सजनी मदन बन आलो तैं,
सोई पायो पिय बखत सिंह मन भावन।

●

निशि कारी भारी करसौ करि दिखय न तम अधिकाई।
इहि अवसर रंग महल में सोइये बखत सिंह पिया जाई॥

●

मारवाडी राग

मारूडा उणींदारे निन्हारे घर आवे ऐ सेजरियाँ
पधारें लारी अमलारो मातो, रंग भीणो दरस दिखावै रै
कुच पट खोले हाथ सों, रीझि बोले हँस कंठ लगावै ऐ
दिन दूलह पिय बखत सिंह पिय तन मणिलानै अति भावेए

सुजान-विनोद यथा :

पीक भरी पलकैं झलकैं, अलकैं जुगडी सु लसी भुज खोज की,
छाई रहे छत छैल की छाती में, छाप बनी कहूँ ओछे उरोज की

वाही चितौति बड़ी अँखियान तें, नीकी चितौत चली अति ओजकी
बालम ओर बिलोकि कै बाल, दई मनो खैंचि सनाल सरोज की

•

नाह सौं नाहीं कहैं मुखसौं, मुख सौं रति केलि करै रतियाँ में,
लागे नखच्छत सी सी करै, करुना पकरै पै बकै बतियाँ में,
देव किते रति कूजति कै तन कंप सजै न भजे छतियाँ में,
जानु भुजानु हुँ को महरावति, आवति छेल लगी छतियाँ में,

•

चारों जाम जामनि के जुग से जगाये जागि
आगि सी जगावति उसासन की फूंक ह्वै,
गगन के उडगन गनत ही गये लखि
लगन सौं लाग्यो उडगन पर हूंक ह्वै ।
'देव' सुन दानि बिनु को दुख बटावै आनि
केते दुख दान परे सोवे मुख मूक ह्वै ।
सखियाँ ह्वै मेरी मोहि अँखिया न सींचती तो
याही रतियाँ में जाती छतियाँ छ टूक ह्वै ।

प्रज्ञान शतक (अप्रकाशित)

जग में यह जीवन तो कवि 'देव' जू और कछू चित ना झुमको
इक सात्विक भाव धरो जियमें, जग घोर उपाधि भरो तुमको
गुरु मूरति आपने चित्त में धारि सवा दल हो नित ही तुमको
कर शंकर शक्ति के ध्यान को ओर, लगाय ले चेतन बौड़ुमको

•

जैसी करी कृपा तुम दीना द्रौपदी को,
जैसी करी ब्याध से अगाध अघरासी को
दीनबन्धु कृपासिंधु मोहू को करहु तैसी,
जैसी करी गनिका अनेक तम त्रासी को

जैसी करी अग्रकील पीपा नामदेव घन,
सदनारि दास औ कबीर मीरा दासो को
जसी करी वारन को अजामील तारन को,
जैसी करी प्रह्लाद भूतल निवासी को

बखत-शतक (अप्रकाशित)

गुरुहि बन्दि श्रृंगारपति नंदनँदन पद बंदि,
बखत शतक विरच्यो उमहि दोहा छंद अनंद।
महाराज बखतेश के नामांकित सब दोह,
पढ़ो सुनो सब रसिक मिलि, कर मोपर अति छोह।

●

कुच माँगे उर देत तिय, उर माँगे कुच देय
रति माँगे ना देति है, बखत सिंह हाँ लेय।
क्यों सिसिकै मसिकैहि क्यों मसिकै ना रस लेइ
मसिके मिसु रस बरसिहै, बखत सिसकि कै देहि।
(इन दोहों में चरम सीमा की अश्लीलता है।)

प्रेम-पचीसी

चाखिकै चखाके चख भरि चोखो छवि छातो
मैन छत छिति परी पीर छतियाँ की हो
गोकुल के छैल ढूँढैं गूढ़ बन सैल हो
अकेली यह गैल तोको ऐल करी थाकी हो
मन्द मुसकाय लै समाय जी में ज्याय ली हो
पाइ ले पियूष प्यासी अधर सुधा की हो
मेरे सुखदाई दे रे देव तू दिखाई नेकु
ऐरे ब्रज भूप तेरे रूप रस छाकी हो।

●

लसी कुहू बहू, कुल कैसी कुल बहू कौन
तू है यह कौन पूछ काहू कुल यहि रो
कहा भयो तोहि कहा कहि तोहि तोहि मोहि
किधौ और काहू और कहा न तो कहि रो
जाति हीं ते जाति कैसी जाति को है जाति ऐ री
तो सों हों रिसात मेरी मोसो ना रिसहि री
लाज गहु लाज गहु लाज गहिबे को रही
पंच हंस हेरी हौं तो पंचन ते बहि री।

देव माया प्रपंच (अप्रकाशित) कलि प्रवेश

पूजत प्रेतनि डाइन के तिन तीरथ खेतन खूंदतु आयो
प्रीति रुठाइ प्रतीति उठाइकै ज्ञान गली गुन रूंदतु आयो
संगति कै मति जाति सुनी सु जन स्तुति को मुख मूँदतु आयो
काम कला विकराल महा तत्काल वहाँ कलि कूदतु आयो

बुद्धि विजय

विश्व बसुधा विश्व मान बसुधा सी सुख
सिंधु नव निद्धि जान वृद्धि बड़ भागिनी
जोग की जुगति भव भोग की भुगति अघ
ओघ की मुकति मुनि लोगन विरागिनी
राका सी रुचिर रति ऐसी अनुकूल राज
रानो सील सोललच्छ सुतासी वरांगनी
सीता सी सलज्ज सीतकर सी सलोनी चारु
रमा सी रमन सैल-सुता सी सुहागिनी।

कालिका-स्तोत्र — (अप्रकाशित)

श्री काली जू पदते भूमि भूमिधारी डगमग होत
दिग्गज रदन टेकि रहत विनीत से।
दिगपाल संकत अमाहू अतंक तजे
मुनीस हूँ ससंकत समाधि में सभीत से
देवदत्त अमरारि हृदि संक भारी धारि
रारि सुधि छाँड़ि होत अति भै सहीत से
काली के निसान को निनाद सुनि सत्रु बिनु
अत्र ही मरत काल हूँकरि अजीत से।

●

घोर धुनि जोरि टूट मध्य तैं जघन गिरैं
लच्छ खण्ड होत पुनि रेनु सम राजते
बच्छ थल फाटि ह्वै दु टूक पुरधार होत
चिंता कृष्ण मारग विदा हे भूति काजते
मुण्डनि के झुण्ड अन्तरिच्छ उड़ि जात देव
दत्त मानो उडत विधुन्तुद समाज ते
भूधर से नङ्ग सब टूक टूक होत जब
काली के निसान भोर जोर धुनि बाजते।

●

वृत्त मञ्जरी-अथवा वाग-बिलास

(छंद शास्त्र का विशद एवं अनुपम ग्रन्थ)

जाहर जगत जंग जमुन मँझारनि को,
नगर सिरोमनि नगर है 'पुरावली'
सोहे सुक्खि थल जाको सोहे सब भाँति जाको
चन्द्रमा सी उजली है सुजस गुनावली
नाम छत्रसाल उर घाले सत्रुन के पोरि
जाकी लखि भागें अरिय गति उतावली

देव दत्त प्रथम ही ग्रन्थ के अमरता की
छन्द कै प्रबंध भनै बंश बिरुदावली।

ऐसे समरथ गुन जलधि छत्रसाल इक रोज
आज्ञा इमि कवि देव को, दई आप मन मौज
'देव ! कहो सुठि ग्रन्थ अब, छन्दोमय सुखदाइ
छंद रूप अरु नाम सब, जामें जान्यो जाय।
जब निदेश ऐसे भयो तब मन बढ़्यो हुलास
छंदोमय शुभ ग्रन्थ अब, कीजतु वाग-विलास
गुरु गणपति फनपति सुमिरि सुमिरि सारदा माइ
वृत्त मञ्जरी रचहुँ मैं, सरब अंग सुखदाइ।
सन् १८४६-आश्विन विजया वृत्त मञ्जरी पूर्ण कृता

आत्म-श्लाघा

सूर सूर तुलसी सुधाकर नछत्र कैसो
शेष कविराजन को जुगनूँ गिनाय कै
कोऊ परिपूरन भगति दिखराओ अब
काव्य रीति मोसन सुनहुँ चित लाय कै,
'देव' नभ मण्डल समान हैं, कवीन मध्य
जामैं भानु, सितभानु तारागण आय कैं
उदै होत अथवत चारों ओर भ्रमत पै
जाको ओर छोर नहिं परत लखाय कै।

नम्रता

या साहित्य समुद्र को बडनि न पायो पार।
हमसे ओछे कविनु को तहाँ कहाँ अधिकार ॥
॥ इत्योम् ॥

उर्दू-शायरी

इधर हम देखते हैं कि उर्दू मुशायरों में अवाम को दिलचस्पी रोज़-रोज़ बढ़ती जाती है। इसकी वजह पहले तो शायरी का चुलबुलापन, दूसरे ज़बान का मुहावरेदार होने की वजह से चंद अल्फ़ाज में दिलकश बयानी, तीसरे शुअरा के कहने का दिलकश ढंग, चौथे उस्ताद और शार्गिद की सुन्नत चले आने की वजह से शागिर्द का हमेशा अपने अशआर को असतिजा दुरुस्त कराते रहना, पाँचवे इश्क़ की कहानियों को मसनवी लिबास में ओढ़ने की .खुसूसियत, छठे मरसिया लिखने में रहम और शुजाअत का इम्तिज़ाज है जो सुननेवालों को मसरूर कर देता है, सातवें रुबाइयों में दर्सो तद्रीस, तालीमो तअल्लुम को वाज़ेह ढंग से पेश करना। अब रही ग़ज़ल—अरबी में ग़ज़ल औरतों से बात-चीत करने को कहते हैं, इसलिये हुस्न और इश्क़ के तज़किरे को ही लोग ग़ज़ल कहने लगे। इसमें ५ से लेकर ११ शैर होते हैं जिसमें हर शैर का मज़मून अलग-अलग होता है। इसी वजह से इश्क़-मय, बुत-सेहरा से लेकर सियासत तक सब एक ही जगह ग़ज़ल में हासिल हो जाता है।

जहाँ तक आशिक़ो माशूक़, मातालिबो मतलूब का तअल्लुक़ है इस अदब की विचार-धारा दुनिया में सबसे अजीबो ग़रीब है। दुनिया का हर अदब आशिक़ को बेवफ़ा और माशूक़ को बावफ़ा मानता है लेकिन उर्दू अदब का माशूक़ बेवफ़ा, बेरहम, ज़ालिम, क़ातिल, सय्याद, जल्लाद, हरजाई, बदज़बान, बदचलन, बेमुरव्वत और काफ़िर है। उसका फ़र्ज़ आशिक़ को क़त्ल करना, उसी के सामने रक़ीब से मिलना, मरने के बाद उसकी क़ब्र पे जाना, ठोकर लगाना, गालियाँ देना, एवं .गुस्ताखी व शरारत करना है।

नमूने के तौर पर चंद अशआर पेश करता हूँ।

दिल दिया जान के क्यों उसको वफ़ादार असद
ग़ल्ती की हमने कि काफ़िर को मुसलमाँ समझा।

इस रंग से उठवाई कल उसने असद की लाश
दुश्मन भी जिसको देख के ग़मनाक हो गया।

मैंने कहा कि बज़्मेनाज़ चाहिए ग़ैर से नहीं
सुनके सितम-ज़रीफ़ने, मुझको उठा दिया कि यूँ।

आज वाँ तेग़ो क़फ़न बाँधे हुए जाता हूँ मैं
उज्र मेरे क़त्ल करने में वो अब लायेंगे क्या।

वाँ गया मैं भी तो उनकी गालियों का क्या जवाब
याद थीं जितनी दुआएँ सर्फ़-दर्बां हो गईं।

वो दिन है कौन सा कि सितम पर सितम नहीं
गर ये सितम हैं रोज़ तो इक रोज़ हम नहीं।

सेज ऊपर ग़ैर की रहता है वो लोटा हुआ
ज़र के लालच इस क़दर वह सीमे तन खोटा हुआ।

यही है आज़माना तो सताना किसको कहते हैं
उदू के हो लिये जब तुम तो मेरा इम्तहाँ क्यूँ हो।

निकलना ख़ुल्द से आदम का सुनते आये थे लेकिन
बहुत बेआबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले।

मरते मरते देखने की आरज़ू रह जायगी
वाये नाकामी कि उस क़ाफ़िर का ख़न्ज़र तेज़ है।

कूए गुल, नालये दिल, दूदे चिराग़े महफ़िल
जो तेरी बज़्म से निकला वो परीशाँ निकला।

जाती हुई मय्यत देख के भी वल्लाह तुम उठकर आ न सके
दो चार क़दम तो दुश्मन भी तकलीफ़ गवारा करते हैं।

पसेमर्ग क़ब्र पै ऐ ज़फ़र कोई फ़ातिहा भी पढ़े कहाँ
वो जो टूक क़ब्र का था निशाँ उसे ठोकरों से उठा दिया।

इसके विपरीत अंग्रेज़ी अदब में जिनके पुरुष या आशिक़, माशूक़ से प्रेम की भीख माँगता है—वहाँ भी आशिक़ बेवफ़ा और माशूक़ वफ़ादार होता है :—पुरुष के लिये Shakespeare कहता है :—

Sigh no more Lady, sigh no more
Men were deceivers ever,
One foot in sea and one on shore
To one thing constant never.

और माशूक़ के लिये Lord Byron, जिसके sex की स्वच्छंदता प्रसिद्ध है, कहते हैं:—

Sooner shall the blue ocean melt to air
Sooner shall the earth resolve itself to Lea
Than I resign thine image O' my dear
And think of anything accepting thee.

Goldsmith ने लिखा कि

When lonely woman stoops to folly
And finds too late that men betray
What charm can soothe her melancholy
What art can wash her guilt away,
The only art her guilt to cover
And hide her shame from every eye
And give repentence to her lover
And wring his bossom is to die.

ग़लत क़दम पड़ा था एक राहे शौक़ में
मंज़िल तमाम उम्र मुझे ढूँढ़ती फिरी।

इसके अलावा अब आप हिन्दू संस्कृति के बारे में देखिये एक फ़ारसी के शायर का क़लाम—

दर आशिक़े चूँ ज़ने हिंदी कसे मर्दाना नीस्त
सोख़्तन बर शमये मुर्दन कारे हर पर्वाना नीस्त।

अर्थात् परवाना तो जलती हुई शमाँ पर निसार होता है लेकिन हिंदू स्त्री अपने मरे हुए पति की लाश को लेकर सती हो जाती है।

अब उर्दू अदब के आशिक़ को देखिये—

इसका आशिक़ बीमार, बेख़बर, आवारा, दीवाना, बेक़रार, बदनाम, बदबख़्त, रंजीदा, ज़ईफ़, मदहोश और आँसू बहानेवाला होता है। रक़ीब का दुश्मन, मुक़द्दर को कोसने वाला, सैयारेँ की शिकायत करनेवाला, ज़ाहिद, वाइज़, शेख़ सबको कोसनेवाला होता है। मय, मयख़ाना और साक़ी की तारीफ़ करनेवाला एवं कुफ़्र और लामज़हबी से इख़्लाक़ जतानेवाला होता है। ईमान और इस्लाम से नफ़रत, बुतपरस्ती को दाद देनेवाला होता है। माशूक़ की गलियों में चक्कर लगाना, ख़्वाब देखना, मर कर भी चैन न पाना, क़ब्र में पड़े पड़े भी माशूक़ के आने की बाट देखना, चैन न पाना आदि इसका काम होता है।

इसी वजह से उर्दू अदब की शायरी शराब, महफ़िल, आशिक़, माशूक़, बाग़, सहरा, आसमान, ख़िज़ाँ, शैख, शैतान, ग़म, अश्क, बुत, हूर, परी, क़ातिल, क़यामत, काफ़िर, लैला-मजनूँ, शीरीं-फ़रहाद, गुलो बुलबुल तक ही महदूद रह गई।

उर्दू शायर अपना रुख़ बदलें

उर्दू भाषा के सम्बन्ध में जन साधारण की धारणा है कि मुसलमानों के भारत में आगमन के पश्चात् लश्कर में मुसलमान सिपाहियों के सम्पर्क में आने पर उनसे विचार-विमर्श का जो माध्यम था, उसका नाम लश्करी या उर्दू भाषा पड़ा। मुसलमान अपने साथ तीन भाषाएँ अरबी, फ़ारसी और तुर्की लाये थे—उसमें यहाँ की बोली जाने वाली भाषा के सम्मिश्रण से उर्दू भाषा बनी और धीरे-धीरे यह मुसलमानी दरबार की ही नहीं बल्कि दिल्ली के आस पास के स्थानों में जन साधारण की भाषा हो गयी। वास्तव में आज जिसे खड़ी बोली कहते हैं—वह इसी बोली जानेवाली भाषा का परिवर्तित रूप है। अगर अरबी और संस्कृत वर्णमाला का भेद मिट जाय तो दोनों भाषाएँ एक हैं। वास्तव में वर्त्तमान खड़ी बोली के जन्म-दाता राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्द आदि सभी विद्वान् उर्दू-फ़ारसी दोनों के ही पंडित थे, और उनके द्वारा प्रयोग में लाई गई भाषाका नाम ही खड़ी बोली पड़ा।

लेकिन एक दूसरे मतवादी भी हैं जिनका कहना है कि उपर्युक्त कथन यथार्थ से परे है। एक समय था जब हिन्दुओं का प्रभाव भारतवर्ष के अतिरिक्त ईरान, अरब, रूस, तुर्किस्तान तथा मंगोलिया तक विस्तृत था। ईरानवालों के साथ तो आर्यों का विवाह सम्बन्ध प्राचीन काल में भी पाया जाता है। अतः यह कैसे संभव था कि हम उनकी भाषा से अवगत न रहे हों।

महाभारत-काल में हम देखते हैं कि जब युधिष्ठिर लाक्षागृह में जा रहे थे तब विदुर महाराज ने दुर्योधन के षड्यंत्र से आगत विपत्ति की सूचना सबके सामने यावनी भाषा में युधिष्ठिर को दे दी जिसको अन्य उपस्थित व्यक्ति नहीं समझ सके।

प्राज्ञः प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत्—महा०
दत्ता यदब्रवीद् वाक्यं जन-मध्ये ब्रुवन्निव
त्वया च स तथेत्युक्तो जानीमो न च तद्वयम्।

अतः यह निश्चित हो गया कि विदुर एवं युधिष्ठिर दोनों म्लेच्छ भाषा से परिचित थे और इसी भाषा में लाक्षागृह में वहाँ से खम्भ तोड़कर सुरंग द्वारा भाग जाने का वृत्तान्त भी अंकित था। यह महाभारत में स्पष्ट वर्णित है। तो यहाँ इस भाषा का प्रशिक्षण भी होता रहा होगा।

उसके पश्चात् राजा भोज के काल में कालिदास के नाटकों में यावनी स्त्रियों द्वारा अंतःपुर में दासियों का वर्णन है। तो निश्चय ही म्लेच्छ देशों से हमारा सम्बन्ध था और हम एक दूसरे की भाषा से भी परिचित थे।

इसके पश्चात् पृथ्वीराज काल में चन्द बरदायी-रचित "रासो" में म्लेच्छ भाषा अरबी, फ़ारसी और तुर्की के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग है।

इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के व्यापारी जहाजों का सारे मध्य-पूर्व में आवागमन था। अतः निश्चित है कि दोनों देश एक दूसरे की भाषा से परिचित थे।

रासो के लेखक चन्द बरदायी पृथ्वीराज के ग़ज़नी ले जाये जाने पर जब उनसे जेल में मिले हैं तो उन्होंने शब्दवेधी बाण के कौशल-द्वारा मुहम्मद ग़ोरी का वध करके उससे बदला लेने के लिये पृथ्वीराज

को उत्साहित किया है। दूसरी ओर मुहम्मद ग़ोरी के दरबार में जाकर उन्हें पृथ्वीराज का हस्त-कौशल देखने के लिये प्रस्तुत किया है। तो निश्चय है कि वे उनकी भाषा से पर्याप्त मात्रा में अवगत थे।

उसके पश्चात् शाहजहाँ से दो पीढ़ी पहले तुलसीदास जी ने अपनी कविता में एक उर्दू मुहावरे का प्रयोग किया है : यथा

"बालिस बासी अवध के बूझिये न खाको"

यहाँ 'ख़ाक भी नहीं समझते।' यह प्रयोग प्रमाणित करता है कि तुलसीदासजी से पूर्व भी यहाँ इस भाषा का जन-साधारण में प्रयोग होने लगा था।

(१) मुसलमान लेखकों ने भी लिखा है कि ८७० ईस्वी के लगभग अब्दुल्ला एराक़ी ने हिन्द के राजा अलूरा के लिये क़ुरान का अनुवाद हिन्दी में किया था।

(२) कालिंजर के राजा नंदा ने (ईस्वी १०१३ के लगभग) सुल्तान महमूद की शान में हिन्दी में शैर लिख कर भेजे थे।

"नन्दा बज़बान हिन्दी दर मदः सुल्तान शअरी गुफ़्तः।

अतः स्पष्ट है कि सुल्तान महमूद के दरबारी हिन्दी से पूर्णतया परिचित थे। उसका कारण यह भी प्रतीत होता है कि मुसलमान लाखों की संख्या में गुलामों को भारतवर्ष से अपने देश में ले जाते थे। अतः, भाषा का मिश्रण होना और समझना स्वाभाविक था। सुल्तान महमूद ने तिलक नाम के हिन्दू को अपने दरबार में पत्र-व्यवहार के लिये रख रक्खा था। एक बात तो स्पष्ट है कि इस भाषा का 'हिन्दी' नाम सुल्तानों का दिया हुआ है। यहाँ के संस्कृतज्ञ तो इसे 'भाषा' के नाम से ही संबोधित करते थे।

यहाँ के मुसलमान बादशाह हिंदू धर्म के प्रति अत्याचारी होते हुए भी इस भाषा के विरोधी नहीं थे। उनके दरबार में हिन्दू कवियों

का आदर था। वे इस भाषा को समझते थे और कितनों ने तो स्वयं ही इस भाषा में कविता की है। और की बात तो छोड़िये, औरंगज़ेब जैसे तअस्सुबी बादशाह के पत्र-व्यवहार से विदित होता है कि उसे संस्कृत एवं हिन्दी दोनों भाषाओं का ज्ञान था। इसीलिये उसने भूषण से कविता सुनने का आग्रह किया था। उसके पुत्र आज़मशाह के द्वारा प्रेषित कुछ नवीन प्रकार के आमों का नामकरण करने के लिए जब उसने आग्रह किया तो बादशाह ने अपने उत्तर में लिखा था—

फ़र्ज़ंन्द आलीजाह डाली अम्बा मुर्सले बज़ायके ख़ुशगवार आमदा बरायनाम अम्बरा गुमनाम पिपटमीरचरा मी शवद—
बहरहाल–सुधारस वो रसना बिलास नामीं राशुद —

उपर्युक्त पत्र से विदित होता है कि आम का नामकरण "सुधारस व रसना-विलास" औरंगज़ेब के हिन्दी व संस्कृत ज्ञान का परिचायक एवं उसकी सरस हृदयता का भी द्योतक है।

इसके अतिरिक्त इस भाषा का नामकरण हिंदी करनेवाले एवं इसमें सर्वप्रथम कविता करनेवाले मुसलमान कवि ख़ुसरो ही हैं।

शर्मो हया दर हिन्दी लाज
हासिल कहिये बाज़ खिराज़।

कविता का उदाहरण—

तरवर से इक तिरिया उतरी उसने बहुत रिझाया।
बाप का उसके नाम जो पूछा आधा नाम बताया।

उसने बहुत रिझाया, आधा नाम बताया आदि प्रमाण आजकल की हिन्दी के शुद्ध प्रयोग हैं।

हर ज़बान तीन लफ़्ज़ों से बनती है—संज्ञा-(इस्म), क्रिया (फ़ेल), अव्यय (हर्फ़)। उर्दू में फ़ेल सब वर्त्तमान खड़ी बोली के हैं। हर्फ़ भी प्रायः समान हैं, हाँ, इस्म में हिंदी, फ़ारसी, तुरकी

पुर्त्तग़ालो, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण है। उसका कारण है कि यहाँ अनेक विदेशी जातियाँ विजेता के रूप में आईं और अपनी भाषा एवं सभ्यता का कुछ न कुछ छोड़ गईं। उन्हीं सब का मिश्रण यह आज की हमारी वर्त्तमान भाषा है। अतः सिवाय भाषाविज्ञों के यह बताना भी असंभव नहीं तो दुरूह अवश्य है कि दैनिक भाषा में जन साधारण-द्वारा व्यवहृत शब्द मूलतः किस भाषा के हैं। यथा—पायजामा, रूमाल, शाल, दुशाला, कुरता, पुलाव, चपाती, ज़र्दा, अचार, मुरब्बा, गुलाब, चमचा, तश्तरी, साबुन, शीशा, हुक्क़ा, चिलम, बंदूक़ आदि।

पिस्तः, बादाम, मुनक्का, बेदाना, ख़ूबानी, अंजीर, सेव़, फ़ालसा, नाशपाती, मज़दूर, वकील, मसख़रा, चादर, लिहाफ़, शक़्ल, चेहरा, कबूतर, बुलबुल, तोता, दावात, क़लम, स्याही, ऐनक, सन्दूक़, कुर्सी, तख़्त, लगाम, ज़ीन, नाल, जहाज़, मस्तूल, तुहमत, पर्दा, दालान, बरामदा, तनख़्वाह, ग़लत, सही, कारीगर, तराज़ू।

अरबीः—अक़्ल, इम्तिहान, इख़्तियार, औरत, हाल, सिफ़ारिश, अदालत, मुक़दमा, तारीख़, इन्साफ़, इन्सान, उम्दा, ऐब, ख़बर, ख़र्च, तकरार, दलील, दुन्या, शरबत, सलाह, हुक्म आदि।

फ़ारसी—आदमी, उम्मीदवार, आबादी, ख़रीद, बाग़, चश्मा, दूकान, चाक़ू, तन्दुरुस्ती, दस्तावेज़, दरिया, प्याला, कमर, दाग़, मोज़ा, साबुन, होशियार, हवा, हज़ार।

तुर्की—रोटी, तोप, लाश, कुरता।

पुर्त्तग़ाली—अँगरेज़, पलटन, कप्तान, कमरा, नीलाम, गोदाम, चाबी, अचार, अनन्नास, तंबाक़ू, बिस्कुट, काजू, चाय, काफ़ी, सागू, गोभी, परेग, आलमारी, मेज़, तौलिया, गारद, बजरा, पादरी, साया।

अंगरेज़ी—कोट, पतलून, वास्कट, बूट, फ़ुट, इंच, कोर्ट, अपील, टिकट, टेबिल, पेन्सिल, बोर्डिङ्ग, ग्लास, रेल, वारंट, रसीद, रबर,

लालटेन, मील, बैंक, सोडावाटर, होटल, हस्पताल, बोतल, पास, रजिस्ट्री, नोटिस, सम्मन, स्कूल, फ़ीस, स्लेट, प्रेस, मास्टर, वोटर, कौन्सिल, एसेम्बली, मीटिंग, बाईसिकल, ट्रेन, लाइन, बटन, निब आदि।

उपर्युक्त उदाहरणों से विदित हो गया होगा कि हमारी आजकी दैनिक बोलचाल की भाषा में विदेशी भाषा के इतने शब्द मिश्रित हो गये हैं कि न तो उनके पर्यायवाची हैं और न उनको निकालने से हमारा काम चल सकता है।

एक बात और भी है कि विदेशी भाषा के शब्द हिन्दी में मिलकर अपनी अस्लीयत खो बैठे और हिंदी व्याकरण के साँचे में ढलकर हिंदू हो गये। इनके बहुवचन एवं क्रिया दोनों ही हिन्दी व्याकरण के अनुसार हो गए। इससे यह सिद्ध हो गया कि कुछ विदेशी शब्दों के मिलने से कोई भी भाषा पृथक् भाषा नहीं हो जाती। अतः भारतवर्ष की हिन्दी एवं उर्दू दोनों भाषायें एक हैं। दोनों का व्याकरण एक है। केवल अन्तर है तो लिपि मात्र का। हिन्दी देवनागरी लिपि में और उर्दू अरबी लिपि में लिखी जाती है। अगर यह अन्तर मिट जाय तो दोनों भाषाओं में कोई फ़र्क न रह जाय। लेकिन अंग्रेज़ शासकों ने हिन्दू मुसलमान दोनों को दो जातियाँ क़रार देकर उनमें झगड़ा डलवा देने की नीयत रक्खी जिससे उर्दू में फ़ारसी-अरबी के शब्द मिश्रित होकर एवं हिंदी में संस्कृत के शब्द मिश्रित होकर दोनों भाषायें भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगीं, लेकिन आज भी जन साधारण-द्वारा व्यवहृत भाषा दोनों की एक ही है और जब तक हिंदू मुसलमान दोनों ही अपनी एक भाषा मान कर उसे राष्ट्रीय भाषा क़रार नहीं देंगे तब तक हमारे देश में न तो ये मज़हबी झगड़े समाप्त होंगे और न हिंदू-मुसलमान मिलकर एक भारतीय जाति ही बनेगी।

उर्दू-हिन्दी को लेकर विवाद क्यों ?

आज हमारे देश में उर्दू को लेकर पुनः विवाद खड़ा हो गया है। कारण मुसलमान उर्दू को अपनी भाषा समझते हैं और आम हिन्दू जनता भी अरबी लिपि में लिखी जाने के कारण इसको मुसलमानों की भाषा मानते हैं। यद्यपि हमारे देश की सरकार ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है फिर भी इस देश में रहनेवाले कुछ फ़िर्कापरस्त मुसलमान उससे आज भी नफ़रत करते हैं। इसके विपरीत हिन्दुओं में भी एक दल है जो उर्दू को मुसलमानों की भाषा मान कर उससे घृणा करता है।

अब आइये विश्लेषण करके देखें कि ये दोनों दल कहाँ तक ठीक हैं।

आज से ५००० वर्ष पूर्व महाभारत काल में भी यहाँ के लोगों को यावनी अथवा म्लेच्छ भाषा का ज्ञान था। पाण्डवों के लिये वारणावत का महल तैयार करनेवाला शिल्पी पुरोचन यवन था। जब विदुर ने सुना कि उस मकान के निर्माण में सारे विस्फोटक पदार्थों का व्यवहार हुआ है और यह पाण्डवों का नाश करने का षड्यंत्र है तब उन्होंने आग लगने पर बचने के लिए एक सुरंग बनवा दी थी और इसका भेद यावनी भाषा में उस स्थान पर अंकित करवा दिया था और चलती बार उन्होंने इसी भाषा में युधिष्ठिर को संकेत भी कर दिया था जिसे वहाँ खड़े रहनेवाले व्यक्ति नहीं समझ सके थे।

(१) प्राज्ञः प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः
प्राज्ञः प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचो ऽब्रवीत् ।

(२) क्षत्ता यदब्रवीद् वाक्यं, जनमध्ये ब्रुवन्निव
त्वया च स तथेत्युक्तो, जानीमो न च तद् वयं ।

जब इस भाषा का विदुर और युधिष्ठिर दोनों को ज्ञान था तो इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ इसका पठन-पाठन भी अवश्य रहा होगा ।

आगे चलकर कालिदास आदि कवियों के नाटकों में देखें तो वहाँ अन्तःपुर में यावनी दासियाँ प्रहरी नियुक्त थीं तो यह निश्चय है कि यहाँ के लोगों को उनकी भाषा का ज्ञान अवश्यमेव था ।

मुसलमानों के भारतवर्ष में आगमन से बहुत पूर्व से भी हिन्दुस्तान की जहाजरानी चालू थी और यहाँ के सौदागरी जहाज़ों का बेड़ा सारे मध्य पूर्व एशिया में भ्रमण करता था और विशेष करके म्लेच्छों के देशों में । अतः उनकी भाषा से विज्ञ होना स्वाभाविक था और यही कारण है कि पृथ्वीराज रासो में चन्द बरदायी ने बहुत से अरबी, फ़ारसी भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है। इससे यह निश्चित है कि यहाँ के वासी उस ज़माने में भी उनकी भाषा से परिचित थे यथा विक्रमोर्वशीयम् के पंचम अंक में :

यवनी :—एष आणीयस्सं (एष आनेस्यामि) इति निष्क्रान्ता ।

अतः जब राजा के अन्तःपुर में यवनी दासी का काम करती थीं तो उभय पक्ष को भाषा का ज्ञान होना निश्चित था ।

अब आज जो मुसलमान भाई उर्दू को फ़ारसी बना देना चाहते हैं उनकी जानकारी के लिये नीचे एक तालिका दी जाती है जिससे यह प्रमाणित हो जायेगा कि फ़ारसी भी संस्कृत की अपभ्रंश भाषा है और जो आर्य यहाँ से जाकर मध्य-पूर्व एशिया में बस गये थे उनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित थी। अतः उस देश का नाम भी मिश्र पड़ गया—मिश्र अर्थात् मिला हुआ ।

तालिका

संस्कृत	फ़ारसी	अर्थ	संस्कृत	फ़ारसी	अर्थ
तनु	तन	शरीर	विधवा	बेवा	विधवा
जानु	ज़ानू	घुटना	आप	आब	पानी
अंगुष्ठ	अंगुश्त	उँगली	वात	बाद	हवा
हस्त	दस्त	हाथ	तारा	सितारा	तारा
शिर	सर	सिर	आफ़ताप	आफ़ताब	सूर्य
वदन	बदन	मुँह	मासताप	माहताब	चन्द्रमा
चर्म	चर्म	चमड़ा	मास	माह	महीना
अश्व	अस्प	घोड़ा	मेघ	मेह	वर्षा
मेष	मेश	भेड़	क्षीर	शीर	दूध
खर	ख़र	गधा	शर्करा	शकर	शक्कर
उष्ट्र	उश्तुर	ऊँट	ताम्बूल	तम्बूल	पान
मूष	मूश	चूहा	कर्पूर	का.फूर	कपूर
शृगाल	शग़ाल	सियार	माष	माश	उड़द
कृमि	किर्म	कीड़े	शालि	शाली	धान
द्वि	दो	दो	मिश्री	मिस्री	मिसरी
चत्वारि	चहार	चार	शाखा	शाख़	डाली
पंच	पंज	पाँच	क्षत	ख़त्त	घाव
षट्	शश	छह	सलाका	सलख़	सलाई
सप्त	हफ़्त	सात	नमः	नमाज़	प्रणाम
नव	नौ	नौ	अधिकार	इख़्तियार	अधिकार
दश	दह	दस	दूर	दूर	दूर
शत	सद	सौ	वीक्षण	बीं	देखना
पितर	पिदर	पिता	प्रमाण	पैमाना	नाप
भ्रातर	बिरादर	भाई	बन्ध	बन्द	बाँधना

संस्कृत	फ़ारसो	अर्थ	संस्कृत	फ़ारसी	अर्थ
दुहितर्	दुख़्तर	लड़की	आपत्ति	आफ़त	विपत्ति
श्वशुर	ख़ुसुर	ससुर	छाया	साया	छाँह
विष्टर	बिस्तर	बिछौना	त्वम्	तो	तू
अस्ति	अस्त	है			

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात हो जावेगा कि संस्कृत और फ़ारसी भाषा के शब्दों में कितनी समानता है। कितने ही शब्द तो ज्यों के त्यों हैं। कुछ अपभ्रष्ट हैं। जब मुसलमान संस्कृत से निकली फ़ारसी भाषा का पृष्ठ-पोषण करते हैं तो संस्कृत से निकली हिन्दी भाषा से ही उन्हें क्या बैर है।

जहाँ तक उर्दू भाषा का सम्बन्ध है, लोगों का ख़्याल है कि उर्दू नाम लश्कर का है और यह भाषा लश्करी भाषा है। मुसलमानों के भारत में आगमन पर फ़ौजी छावनियों में उनसे बातचीत करने का जो माध्यम था उसी का नाम उर्दू पड़ा। अतः यह भाषा तो हमारी ईजाद है। यह मुसलमानों की कैसे हो गई? इस भाषा पर तो हिन्दू-मुसलमान दोनों का समान अधिकार है। आज को जो खड़ी बोली है उसके सर्व प्रथम कवि मुसलमान शायर '.ख़ुसरो' हैं। उनसे पहले यहाँ कविता में प्रयुक्त होनेवाली भाषा ब्रज भाषा थी। मुसलमान और हिन्दू दोनों ने ही इस मिश्रित भाषा में साहित्य रचना की है। हिन्दी साहित्य के सर्जन में मुसलमान भी हिन्दुओं से पीछे नहीं रहे हैं और मुसलमान बादशाहों के दरबारों में हिन्दू-मुसलमान दोनों भाषा के कवियों का समान रूप से आदर होता था। हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग रीतिकाल और भक्तिकाल मुसलमानों के राजत्व काल में ही पनपा है। जब उस ज़माने के औरंगज़ेब जैसे तअस्सुबी बादशाहों को हिन्दी से चिढ़ नहीं थी तो आज के भारतीय मुसलमानों को उससे चिढ़ क्यों है।

हिन्दी खड़ी बोली के पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनके समकालीन राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, बालमुकुन्द गुप्त, प्रताप नारायण मिश्र तथा मुंशी प्रेमचन्द, जिन्होंने खड़ी बोली के साहित्य का सर्जन किया है, सब के सब उर्दू फ़ारसी के ही तो विद्वान् थे। दूसरे, उर्दू के व्याकरण और हिन्दी की क्रिया की एक ही पद्धति है।

अतः यदि उर्दू की वर्णमाला अरबी लिपि में लिखी जाने लगे तो दोनों भाषाओं में भेद कहाँ रह जाता है। मुसलमानी बादशाहों तक में दोनों भाषाएँ समान रू। से समानान्तर उन्नत होती गईं। उसके पश्चात् जब अंग्रेज़ों का यहाँ आगमन हुआ तो उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों को दो पृथक् जातियाँ बनाकर उनके आपसी संबंध को विषाक्त बनाकर यहाँ शासन करना चाहा। इस राजनीति के चक्कर में पड़कर मुसमान उस जन साधारण की भाषा को फ़ारसी के शब्दों से भरने लगे और उधर हिन्दुओं ने उसमें संस्कृत शब्दों की भरमार कर दी। इसका फल यह हुआ कि ये दोनों भाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगीं और जनसाधारण की भाषा दुरूह होकर जन साधारण की भाषा नहीं रही बल्कि वह एक वर्गविशेष तक की ही होकर सीमित रह गई।

जब हिन्दी राष्ट्रीय भाषा बनी तो तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने भी अंग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्दों का उल्था ऐसे क्लिष्ट संस्कृत शब्दों में कराया कि उसको आम आदमी तो क्या अच्छा पढ़ा लिखा व्यक्ति भी नहीं समझ पाता है। क्या ही अच्छा होता यदि दैनिक बोलचाल की भाषा के अंग्रेज़ी शब्दों का भी राष्ट्रीकरण कर लिया जाता और वे अपनी भाषा में सम्मिलित हो जाते। आज अंग्रेज़ी संसार की सबसे उन्नत भाषा क्यों है? उनकी औक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी में भिन्न-भिन्न भाषाओं के क़रीब १५००० शब्दों का प्रत्येक वर्ष अंग्रेज़ीकरण कर लिया जाता है और वे विदेशी शब्द उनकी भाषा

के अंग बन जाते हैं। हमारे यहाँ भी जबतक विदेशी शब्दों को अपनी भाषा में मिलाते रहे हमारी भाषा उन्नत हुई। पीछे पृष्ठ ९९–१०० की तालिका से ज्ञात होगा कि हमारी भाषा में कितने व्यावहारिक शब्द विदेशी हैं।

अगर हमारी वर्तमान सरकार ने भी प्रचलित शब्दों का राष्ट्रीकरण कर लिया होता तो एक ओर हमारी भाषा का विस्तार हो जाता, दूसरी ओर जनता को समझने में कठिनाई का सामना न करना पड़ता।

मुसलमान बादशाहों ने ८०० वर्ष शासन किया लेकिन भाषा के प्रश्न को लेकर यहाँ कभी विवाद नहीं हुआ। औरंगज़ेब ने 'आम' शब्द के लिये अपने लड़के को लिखा था कि इसका नाम सुधारस अथवा रसना विलास रख लो। इसके अलावा गवैयों में अधिक संख्या मुसलमानों की रही है। आज भी जितने पक्के गाने हैं—उनमें सूरदास, मीरा, कबीर आदि के पद वे भी दोहराते हैं। मुसलमान कवियों ने केवल कविता मात्र से ही माँ भारती की आरती नहीं उतारी अपितु प्रेम-कथा, रस, अलंकार, छंद आदि पर भी पुस्तकें प्रस्तुत की हैं।

जब मुसलमानी शासनकाल में ही भाषा को लेकर विवाद नहीं उठा तो आज उसकी क्या आवश्यकता आ पड़ी है। मध्यवर्ती काल में जिन अंग्रेजों की विभाजन की नीति के कारण यह विवाद उठा था वे चले गये, तो इस विवाद को भी उनके साथ ही चला जाना चाहिये था। जो आम जनता की भाषा लिपि भेद से उर्दू अथवा हिन्दी कहलाई उसको मज़हबी फ़िरकापरस्तों ने फ़ारसी और संस्कृत शब्द मिलाकर भिन्न-भिन्न रूप दे दिया। अतः फिर से उसको इसका प्राचीन स्थान देना चाहिये।

आज हिन्दी हमारी राष्ट्रीय भाषा है। उसमें लिपि भेद मिटा देवें तो हिन्दू मुसलमान दोनों की भाषा में कोई भेद न रह जाय।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि उर्दू भाषा चुलबुली है। उसमें मुहावरों की भरमार है एवं प्रयोग बड़े ललित हैं। अतः आज समाज का बहुत बड़ा भाग उर्दू शायरी से प्रभावित है। मुहावरों के व्यवहार से चंद अल्फ़ाज़ में ही शायरी दिलकश हो जाती है। मुसलमान शुअरा के कहने का ढंग बड़ा आकर्षक होता है। इश्क़ की कहानियाँ बड़े दिल-पसन्द ढंग से लिखी हुई हैं। मरसिया लिखने में रहम और शुजाअत का ऐसा मिश्रण है जो सुननेवाले को करुण रस से प्लावित कर देता है। उनकी रुबाइयों में दर्सो तद्रीस, तालीमो ताल्लुम को आकर्षक ढंग से उपस्थित किया जाता है। प्रेम और सौंदर्य के तज़किरे कहने में ग़ज़ल ने उर्दू अदब में कमाल हासिल किया है। इसमें जितने भी शैर होते हैं उनमें हर शैर का मज़मून भिन्न-भिन्न होता है। अतः एक ग़ज़ल में में इश्क़, मै, बुत, सहरा, मज़हब एवं सियासी सभी प्रकार का मज़ा एक ही स्थान पर उपलब्ध हो जाता है।

अतः आज के युग में ऐसी भाषा की कोई भी उपेक्षा नहीं कर सकता। मुसलमान अरबी लिपि में और हिन्दू संस्कृत लिपि में लिखें तो फ़र्क़ क्या पड़ता है। हम जिस देश के बाशिन्दे हैं और उस देश की सम्मिलित एसेम्बली में हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लिया गया है तो अब मुसलमानों को भी उदारता दिखलानी चाहिये और राष्ट्रभाषा को अपनाना चाहिये। जिस प्रकार मुसलमानों के धर्म ग्रन्थ अरबी में है उसी प्रकार हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थ संस्कृत में है तो दैनिक जीवन में उनको लेकर विवाद क्यों होना चाहिये। आप नमाज़ अरबी में पढ़ें, हिन्दू अपनी संध्या संस्कृत में करें। उस पर तो कोई पाबन्दी नहीं है।

मुसलमान भाइयों को भी अपना दृष्टिकोण परिवर्तित कर देना चाहियें और जिस देश में पैदा हुए हैं, जिसकी मिट्टी से उनके जिस्म का निर्माण हुआ है उसके प्रति वफ़ादार होकर रहना चाहिये। उन्हें इस

देश की भाषा को अपनी भाषा मानना चाहिये। धर्म आत्मा की चीज़ है उसके लिये इस देश में पर्याप्त स्वतंत्रता है। हिन्दू-मुसलमानों के मिलकर एक जाति हो जाने में यह भाषा का विवाद ही रोड़ा अटकाता है, वरना ये दोनों जातियाँ तिल-तण्डुलवत् मिलकर कभी की एक हो गई होतीं। विलायत में भी भिन्न-भिन्न मज़हबवाले व्यक्ति रहते हैं। स्त्री एक धर्म की एवं पुरुष दूसरे धर्म का होता है लेकिन उनमें तो इस पर कभी विवाद नहीं होता। एक मस्जिद में जाता है तो दूसरा गिरजे में। अगर हम दोनों अपने विचारों में कुछ उदारता ले आवें तो ऐसा होना यहाँ भी कठिन नहीं है और यह हिन्दू-मुसलमान या उर्दू-हिन्दी का मामला सदा के लिये तै हो जाय। जब तक हम दोनों मिलकर एक नेशन नहीं हो जाते तब तक हमारा राष्ट्र संसार के उन्नतशील देशों के साथ दौड़ में कभी आगे नहीं निकल सकेगा। अतः सभी के हित के लिये हमें अपनी संकुचित भावनाओं की बलि देनी होगी। परमात्मा करे हमारे देशवासियों को यह सुबुद्धि आवे और वे अपने राष्ट्र के व्यापक हित के लिये इन क्षुद्र भावनाओं से ऊपर उठें तभी हम एक बार पुनः कह सकेंगे कि 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वं मानवाः।'

वो होंगे बेनक़ाब और पर्दा करेंगे हम

एक समय था जब हमारी स्त्रियाँ परदा करती थीं। इस कुप्रथाको दूर करनेके लिए कितना आंदोलन हुआ, कितना संघर्ष हुआ, कितने जुलूस निकले, कितने सभाएँ हुईं, तब कहीं इस सामाजिक कुप्रथासे मुक्ति मिली। परिणाम यह हुआ कि पुरुषोंकी भाँति स्त्रियोंने भी जीवनकी हर दिशामें उन्नति की और संभवतः उच्च शिक्षामें तो आज वे पुरुषोंसे भी आगे निकल गयीं। पुलिस और सेनामें भी आज स्त्रियाँ पुरुषोंके कंधेसे कंधा भिड़ाकर सक्रिय भाग ले रही हैं। उनका यह क़दम सही दिशा की ओर था, अतः इससे स्त्रियोंकी सर्वांगीण उन्नति हुई।

स्वतंत्रता-प्राप्तिके पश्चात् देशकी आर्थिक अवस्थामें पर्याप्त उन्नति हुई। काला धन पर्याप्त मात्रामें एकत्र होने लगा तो इसके व्यय करनेका मार्ग भी ढूँढा जाने लगा। यह धन प्रायः स्त्रियोंके ही अधिकारमें रहता है अतः वेशभूषा, गहना, कपड़ा एवं प्रसाधन सामग्रियोंमें इसका बड़ी बेरहमीसे व्यय होने लगा। धीरे-धीरे वेश-भूषामें परिवर्तन होने लगा, पर्दा बेपर्दगीमें परिवर्तित होने लगा और पब्लिकमें नग्न अंगोंके प्रदर्शनका रोग बढ़ने लगा। सिरसे प्रारम्भ होकर बाहु, जंघा, छाती, कमर, कोई भी ऐसा लज्जा-शील अंग बाक़ी नहीं जहाँ लज्जा छिपकर अपनी रक्षा कर सके। इस प्रदर्शनकी अग्निमें घृतकी आहुति रजत-पटकी तारिकाओंने दी, जिनका एक मात्र पेशा हो गया कि वे जनता के सामने आकर्षक ढंगसे अपने विविध अंगोंका कामुकतापूर्ण प्रदर्शन करें।

चुम्बन, आलिंगन तो साधारण सी बातें हो गयीं। सिनेमा देखनेके व्यसनके साथ साथ उनके अर्धनग्न पोशाकोंकी नक़ल भी सभ्य समाजकी लड़कियां करने लगीं। दर्ज़ियोंको विशेष निर्देश देकर सिनेमाओंमें भेजा जाने लगा कि वे जाकर तारिकाओं की विशेष वेशभूषाकी नक़ल करें और वैसे ही वस्त्र उनके लिए भी तैयार करें। यह सब इसलिए कि वे भी पब्लिकमें अपने अर्धनग्न अंगों का प्रदर्शन कर ज़्यादा आकर्षक बन सकें और उनके पति कहलानेवाले अपनी ऐसी अर्धनग्न पत्नियोंको साथ लेकर घूमनेमें ऐसा गौरव अनुभव करने लगें मानो उनके साथ 'स्त्री' नहीं बल्कि स्वर्गकी अप्सरा चली जा रही हो और उन्हें देखकर जितने अधिक परवाने शम्मापर मँडराने लगें उतना ही वे अपनेको समाजमें अधिक गौरवान्वित अनुभव करने लगें। जब शम्मा ख़ुद ही अर्यां हो तो परवानोंका क्या क़सूर—

मुझीको सब्र य' कहते हैं कि रख नीची नज़र अपनी।
कोई उनको नहीं कहता न निकलो यूँ अयाँ होकर।

'पति' शब्दकी संस्कृतमें व्युत्पत्ति है–'पातीति पतिः', रक्षा करनेवाला पति होता है और वह सह्य नहीं कर सकता कि उसके एकाधिकारमें दूसरा भी कोई हिस्सा बटाये। किसी दूसरे पुरुषकी कामुक दृष्टि अगर उसकी स्त्रीपर पड़ती है तो उसके इच्छा होती है कि उसकी आंखें निकाल ले। लेकिन आजके सभ्य कहलानेवाले युवक जो स्वयं उत्तेजना देकर अपनी पत्नियोंको प्रदर्शन करनेके लिये बाध्य करते हैं और अपने सामने ही दूसरोंके आग़ोशमें अपनी स्त्रीको देखकर गर्वका अनुभव करते हैं, उन्हें मैं किन शब्दोंमें सम्बोधन करूँ, मैं नहीं जानता।

इतनी सहनशीलता तो ८४००० वर्षोंतक तप करनेवाले ऋषि-मुनियोंमें भी दुर्लभ थी। ऐसोंको 'पति' संबोधन करते तो लज्जाको भी लज्जा आती है। ऐसे भी युवकोंकी समाजमें कमी नहीं है जो

अपने मित्रोंकी स्त्रियोंसे अदला बदली कर रँगरँलियाँ मनाते हैं। होटलोंमें मद्यके दौर चलते हैं। गृहस्थ स्त्रियाँ पर-पुरुषोंके साथ नाचमें सम्मिलित होती हैं।

जब सम्भ्रांत कहलानेवाले परिवारोंका यह हाल है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ।। —गीता

(श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते हैं वैसा ही अन्य लोग भी करते हैं क्योंकि श्रेष्ठ लोग अपने आचरणसे जो प्रमाणित कर देते हैं उसीका अनुकरण अन्य लोग करते चलते हैं।)

—तो उन लोगोंका क्या होगा जो उनका अनुकरण करके उनके पीछे चलते हैं।

इस बुराईका प्रारम्भ तो तबसे हुआ जब से हमारे समाजके साधु कहलानेवाले अग्रणी सुधारकोंने उन कन्या-शिक्षा-संस्थाओंमें, जिनके वे संचालक थे, कन्याओंको नृत्यकी शिक्षा देनी प्रारम्भ की, शिक्षाके पश्चात् खुले स्टेजोंपर सर्वसाधारणमें उनका प्रदर्शन होने लगा और स्वयं माँ-बाप और अभिभावकगण भी अपनी कन्याओंके नृत्यकी प्रशंसा करने लगे। भरत मुनिके अनुसार, नृत्यमें स्त्रियोंके अंगोंका कामुक प्रदर्शन काम पैदा करता है। कामशास्त्री तो इस तथ्यके जानकार हैं कि अफ़्रीका जैसे जंगलोंमें वहाँके असभ्य अधिवासी गर्भाधानके समग्र कामोत्पादनके लिए गर्भाधानसे पूर्व नृत्य किया करते हैं। लेकिन हमारे समाजके पथ-प्रदर्शकोंने अपनी व्यक्तिगत कामवासनाकी पूर्ति के लिए समाजकी निरीह कन्याओंको वासनाकी भट्टियोंमें ले जाकर ढकेल दिया। और यह सब कुछ हुआ सुधारके नामपर।

समाजके रक्तमें इस विषका इतना गहरा संचार हो गया है कि इससे त्राण पाना कठिन हो गया—

मर्ज़ बढ़ता गया ज्यूँ ज्यूँ दवा की।

इस रोगका अब किस प्रकार निराकरण हो सकेगा-यह भगवान् ही जानता होगा।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब जब देश में विलासिता बढ़ी तब तब देश का दुर्भाग्य प्रारम्भ हुआ। पृथ्वीराज ने जब वीरता छोड़कर संयोगिता की संगति की, तभी हिंदू राज्य का सूर्य अस्त हो गया। मुसलमान आये। उनमें ऐयाशी बढ़ी और मुग़ल साम्राज्य में कोई नाम लेवा पानी देवा भी शेष न रह गया। अंग्रेज़ आये और उनमें भी जब विलासिता बढ़ने लगी तो त्याग और तपस्या के बल पर कांग्रेस ने उनके हाथ से शासन-सूत्र छीन लिया। कांग्रेसी भी जब इसके शिकार हुए तो भारतीय सिंह भी चीनी शृगालों से मात खा गया और अब जनता ने उसके हाथ से भी अधिकार छीन लिया—शान्तिपूर्ण चुनाव के द्वारा।

स्वतंत्रता दिवस पर जब दूसरे देश नये नये अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर रहे थे—नये नये युद्ध-पोत, वायुयान, रौकेट और मिज़ाइलका उत्पादन हो रहा था, हमारे कांग्रेसी शासक, महान मुग़लों की भाँति लाल क़िले की दीवार पर बैठकर (जिसकी एक-एक ईंट में सुरा एवं सुन्दरियों का इतिहास छिपा पड़ा है) मणिपुरी नृत्य, कत्थक डान्स, भरत नाट्यम् एवं गरबा डान्स आदि की मंडलियों का दृश्य देखकर रँगरलियाँ मना रहे थे। चीन ने ऐसे ही अवसर का लाभ उठाकर देवस्थान हिमालय पर क़ब्जा कर लिया। हमारे जवानों ने घुटने टेक दिये और जिस निर्लज्जता से हमें वापस लौटना पड़ा वह सारा विश्व जानता है।

वसुन्धरा सदा से ही वीरभोग्या रही है। हिटलर १९३३ में जर्मनी का चांसलर बना। ६ वर्ष की सैनिक शिक्षा से उसने अपने देश को इतना सबल बना दिया कि १९३९ में वह अकेला ही सारे संसार से लड़ने में समर्थ हो गया। हार-जीत दूसरी बात है—

"यक ग़ल्त क़दम था पड़ा जो राहे इश्क़में,
मंज़िल तमाम उम्र मुझे ढूंढ़ती फिरी।

राजनीतिज्ञों की साधारण-सी भूल भी देश के भाग्य-चन्द्र के ग्रहण में सक्षम हो जाती है।

हमारे शासक आज भी न तो इतिहास की भूलों से ही लाभ उठाना चाहते हैं और न अपनी भूलों का प्रतिकार करना चाहते हैं। अगर समय रहते हमारे शासकों ने युवतियों में बढ़ती हुई इस विलासिता को रोकने का प्रयत्न नहीं किया और सैनिक प्रशिक्षण अनिवार्य बनाकर देश का सैनिक संगठन नहीं किया तो देश रसातल में चला जायगा और विदेशियों के पदतल से अपनी मातृभूमि की रक्षा करना संभव नहीं हो सकेगा।

सर्वप्रथम तो कामुकता फैलानेवाले अर्ध-नग्न प्रदर्शन करनेवाले चित्रों पर तुरन्त कड़े से कड़ा प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये ताकि आने वाली पीढ़ी इस विलासिता के विष से त्राण पाकर इस देश को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाने में सक्षम हो सके। परमात्मा हमारे इन शासकों को सद्बुद्धि दे। वे व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर समष्टि के कल्याण के लिए इस बुराई का उन्मूलन करें ताकि हमारा देश उन्नति के चरम शिखर पर आरोहित हो सके।

बेपर्दा नज़र आईं जो कल चन्द बीवियाँ,
अकबर ज़मींमें ग़ैरते क़ौमी से गड़ गया।
पूछा जो उनसे आपका पर्दा कहाँ गया,
कहने लगीं कि अक़्लपे मर्दोंकी पड़ गया।
तालीम लड़कियों की ज़रूरी तो है मगर,
ख़ातूने-ख़ाना हों वे सभा की परी न हों।
ज़ीइल्मो-मुत्तक़ी हों वले उनके मुन्तज़िम,
उस्ताद अच्छे हों मगर उस्तादजी न हों॥

—अकबर इलाहाबादी

रीतिकालीन काव्य में रति-लीला

बहुधा लोग कहा करते हैं कि कवियोंने शृंगार-प्रधान नायिका-भेदका वर्णन करके राधा-कृष्णकी व्याजोक्तिसे समाजमें परपुरुष-रतिका स्पष्टतः प्रचार किया है और इसके प्रति धार्मिक बन्धन शिथिल करके प्रत्यक्ष रूपसे व्यभिचारको प्रोत्साहन देकर इससे घृणा दूर करनेकी चेष्टा की है। प्रश्न उठता है कि क्या यह आपत्ति उचित है? और ग्रन्थों की तो बात जाने दीजिये, वेदोंमें भी, जिन्हें हिन्दू मात्र अपौरुषेय मानते हैं, ऐसी लीलाओंका आलंकारिक वर्णन है—उषा और सूर्य का वर्णन, पुरुषका प्रकृतिमें गर्भ धारण, जड प्रकृतिके साथ चैतन्य पुरुषका संयोग आदि। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार का विपरीत भाव व्यक्त किया ही नहीं जा सकता अथवा ऋषि-मुनियों में भी वही भावना विद्यमान थी जिसका कवियोंने अपने काव्यमें आश्रय लिया है।

उपनिषत्कारोंने रसोंमें शीर्ष-स्थानीय रस परमानन्द को माना है—'रसो वै सः।' इसीलिए संसारकी सभी भाषाओंके कवियोंने रीति-ग्रन्थोंका निर्माण करनेमें ही अधिक पुरुषार्थ किया है। तन्त्र-ग्रन्थोंमें तो यह शिष्टताकी सीमाको भी पार कर गई है।

वैष्णव कवियोंने राधाको प्रकृति-स्थानीय एवं कृष्णको पुरुष-स्थानीय मानकर रास अथवा रहस्य को प्रकृति-पुरुषका संयोग अथवा क्रीडा मात्र मानकर रीतिकालीन साहित्यका सर्जन किया है। इसीको मापदण्ड मानकर अथवा इसी न्यायके आधारपर कवियोंने अपने काव्यमें अपने-आश्रयदाताओंको पुरुष-स्थानीय एवं राजमहिषी को प्रकृति-स्थानीय मानकर नग्न अश्लीलताका वर्णन किया है।

अन्य कवियोंकी तो चर्चा ही क्या है, भक्त-शिरोमणि महाकवि जयदेव एवं उनके शीर्ष भक्ति-काव्य 'गीत-गोविन्द' को ही देखिये। इस ग्रन्थमें राधा-कृष्णको नायक-नायिका मानकर जिस हृदयग्राही, श्रुतिमधुर, कोमलकान्त-पदावलियों में उनकी रतिलीला के मनोहर गीतों का सर्जन किया गया, उसकी उपमा संस्कृत तो क्या संसारकी अन्य भाषाओं में भी मिलनी दुर्लभ है।

सुहाग-रात्रिमें नव-दम्पतिके प्रथम परिचयके पश्चात् क्रमशः आलिंगन, चुम्बन, कुचमर्दन, नखदन्त-क्षत आदिके द्वारा कामोद्दीपन के पश्चात् रतिका प्रारम्भ करनेसे सर्व प्रकार की मनोवांछित विषयानन्द-प्राप्ति सम्भव है। कालिदासने भी इसी भावकी सम्पुष्टि की है --'युवति-जनेषु शनैः शनैरनंगः।'

शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु प्रवाहित हो रहा हो, मधुर स्वरमें कोकिला कूक रही हो, पुष्पों का मकरन्द संचय करनेमें सक्रिय होकर भ्रमर गुञ्जार कर रहे हों, पलाश के पुष्पोंका रक्त वर्ण रतिराजके पाँच सायकों द्वारा प्रताडित विरही के विदीर्ण हृदय का परिचय दे रहा हो, कहीं-कहीं चमेलीकी लता आम्रवल्लरीका परिरम्भण करके आनन्दविभोर हुई जा रही हो, तो कहीं मत्त कोकिल आम्रवल्लरीपर बैठकर कुहू-कुहू शब्द द्वारा कर्णपुटीमें अमृत प्लावित कर रही हो, आम्रमंजरीपर समवेत भ्रमरों की गुञ्जार बलात् पथिकोंका मन उत्पीडित किये डाल रही हो, ऐसे ही रमणीय वातावरणमें भगवान् कृष्ण जब गोपांगनाओंके पीन पयोधरका मर्दन कर रति-क्रीडामें संलग्न थे तब कहीं कोई गोपांगना अपने उन्नत उरोजोंसे आलिंगन कर अनुराग उत्पन्न कर रही थी, कोई अन्य उनके मुख-चुम्बन के आनन्द का उपभोग कर रही थी तो तीसरी उनके कुन्तल खींच-खींच कर रतिका निर्देश कर रही थी।

धीर समीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली।
गोपी - पीन - पयोधर - मर्दन - चंचल - कर - युगशाली।

भक्ति ग्रन्थ भागवतान्तर्गत 'रास-पंचाध्यायी' में भगवान्‌की ऐसी सरस लीलाओंका बड़ा सुमधुर एवं सुविस्तृत वर्णन है। अतः उनकी दृष्टिमें 'वासुदेवः पुमानेकं स्त्रीमयमितरो जगत्' ऐसी कल्पनाके पश्चात् समस्त वातावरण विषयकी दूषित कल्पनासे रहित हो जाता है तथा सारी अश्लीलताका अकांड तांडव क्षम्य हो जाता है।

ब्रजभाषाके स्वनामधन्य भक्त कवि घनानन्दजीने भी अपनी कविता में ऐसा ही भाव व्यक्त किया है—

'कविता समुझै घनआनँदकी जिन आँखिन प्रेमकी पीर तकी'

अतः यहां राधिका प्राकृत नारी नहीं अपितु विशुद्ध प्रकृति सुन्दरी हैं एवं श्रीकृष्ण हिरण्यगर्भ हैं। इन दोनोंको आलंकारिक भाषा में व्यक्त करनेसे ही मनोविकारमें दूषित सृष्टिका प्रादुर्भाव हुआ है। राधा-कृष्णकी लीला तो विशुद्ध सात्त्विक प्रेमका ज्वलंत दृष्टांत है। अतः राधिकाको स्वकीया-परकीया की परिधिमें लाकर आपत्ति उठाना उचित नहीं।

पुरुष समस्त प्रकृतिके साथ रमण करता है अतः यह रमण ही प्रकृतिका सौभाग्य है। विवाहित राधा, कृष्ण-भक्तिके कारण ही परकीया श्रेणीमें नहीं आतीं। जिनके यहाँ 'देवरः कदाचित् कस्मात् द्वितीयो वरः' अथवा कुन्तीका अपने पुत्रोंको एक द्रौपदीसे पाँचों के साथ सम्मिलित विवाह का आदेश देनेको 'एष धर्मः सनातनः' बताने अथवा

'अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मन्दोदरी तथा।
पंचकन्याः स्मरेन् नित्यं, महापातकनाशनम्।

विवाहित होनेपर भी इन्हें कन्याकी संज्ञा देना एवं पवित्रता की प्रतिमूर्ति मानकर इनके स्मरण मात्रको पाप-नाशक माननेका क्या अर्थ है?

'स्वीया भवति पतिव्रता कौलाचाररताश्च।'

अपने पतिमें व्रतवाली (पतिव्रता) एवं अपने कुलके आचारके अनुकूल चलनेवाली पतिव्रता होती है। अतः 'पातीति पति' उसके व्रतको धारण करनेवाली पतिव्रता हुई। इसी न्यायसे 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' कहकर भगवानको पति माननेवाली भक्त्युन्मादित मीराको स्वकीया, परकीया क्या कहकर सम्बोधन कीजियेगा ? भगवानके लिए तो सारे सम्बन्ध समान हैं—

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव'।

अतः इस न्यायसे राधा-पति कृष्णमें अनुरक्त मीरा, सहजो बाई आदि सभी भक्तिन पतिव्रता हुईं।

पतिव्रताका एक अन्य उदाहरण भी है। ओरछा महाराजकी वेश्या प्रवीणरायने अकबर-द्वारा आमन्त्रित किये जानेपर महाराजसे प्रश्न किया था—

'आई हौं बूझन मंत्र तुम्हैं, निज साँसन सों सिगरी मति गोई
देह तजौं कि तजौं कुलकानि हृदै न लजौं तजि हैं सब कोई।
स्वारथ औ परमारथको गथ, चित्त बिचारि कहौं अब सोई।
जामें रहै प्रभुकी प्रभुता अरु मोर पतिव्रत भंग न होई॥

यहाँ गणिका भी अपनेको पतिव्रता होनेका दम्भ भरती है। यहाँ वह 'पातीति पतिः' अर्थात् रक्षक व्रत सत्तावली होनेके कारण पतिव्रता होने की दुहाई देती है। एक और उदाहरण देखिये। गणेश जी अपनी माँ पार्वती से किस निर्दोष भावना से प्रश्न करते हैं—

मातस्तात जटासु किं सुरसरित् किं शेखरे चन्द्रमा,
किं भाले हुतभुक् लुठत्युरसि किं नागाधिपः किं कटौ।
कृत्तिः किं जघनद्वयान्तरगतं यद्दीर्घमालम्बते,
श्रुत्वा पुत्रवचोम्बिका स्मितमुखी लज्जावती पातु वः॥

[गणेशजी बाल स्वभाव से अपनी माँ पार्वती जी से प्रश्न करते हैं—'क्यों माँ ? यह पिताजी की जटा में क्या है ? यह गंगा हैं।'

सिरपर क्या है ? चन्द्रमा है। माथेपर क्या है ? अग्नि है। छातीपर ये क्या लोट रहे हैं ? ये सर्प हैं। कमर में क्या है ? बाघ का चर्म है और यह दोनों जाँघों के बीच क्या लटकता है ? अपने पुत्र की बात सुनकर लजाती हुई पार्वती आप लोगों की रक्षा करें।] अब महर्षि वाल्मीकि द्वारा वर्णित पुष्पवाटिका में राम को देखकर विवाह से पूर्व सीता जी के राग का जो वर्णन है, उसे आप क्या संज्ञा देंगे— स्वीयत्व अयवा परकीयत्व ?

उपर्युक्त सारी बातों को एक ही शुद्ध भावना के माप-दण्ड से निर्णय करने के पश्चात् ही यथार्थ हिन्दू संस्कृति के अनुकूल ये सारी बातें शुद्ध प्रतीत होंगी और तब आप भक्त कवियों के काव्यों में वर्णित प्रकृति-पुरुष के संयोग वर्णन को अश्लीलता के वातावरण से रहित पाइयेगा।

इतिहास

महर्षि स्वामी दयानन्द

संसार में समय-समय पर जनता जनार्दन का उद्धार करने के लिये जितने भी महापुरुष अवतरित हुए हैं, उनमें से भगवान् बुद्ध—जैसे इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर, जनता ने कब उनके जीवन-काल में उनका सही मूल्यांकन किया है। इसके विपरीत "मरते हैं जिसके इश्क़ में, उसको पता नहीं"—जिस जनता जनार्दन का उद्धार करने में उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया, अपने जीवन की बलि दे दी, उन्हीं से पुरस्कार-स्वरूप उन्हें मिली गालियाँ और मिला अपमान, भर्त्सना, तिरस्कार एवं भाँति-भाँति की यंत्रणाएँ। बहुतों को तो अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा। किंतु—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगांतरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

[धीर पुरुष किसी भी परिस्थिति में अपने पथ से विचलित नहीं होते।] ऐसे ही महापुरुषों में थे हमारे चरित्रनायक स्वामी दयानन्द।

आज शिवरात्रि (फाल्गुन कृ० १३ का दिन है। शैवों का सबसे महान् पर्व। शैवों का ही क्यों? आर्य-समाजियों का भी। कारण, आज को ही रात्रि में युवक मूलशंकर के हृदय में, सच्चे शिव की खोज की जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी। एतदर्थ उन्होंने किशोरावस्था में ही अपने धनी माँ-बाप का दुलार छोड़ा। युवावस्था के प्रारम्भ में ही विवाह की रंगीनियों

का परित्याग किया। जंगल, बियाबान, नदी, पर्वत, दुर्गम घाटी, एवं हिमाच्छादित उत्तुंग शिखरों की खाक छानी, अनेक बार हिंसक पशुओं के आक्रमण से जीवन को संकट में डाला और दर-दर की ठोकरें खाते फिरे। ये सब किसलिये ? उस सच्चे गुरु की खोज में जो उन्हें सच्चे शिव का साक्षात्कार करा सके। "जिन खोजा तिन पाइयाँ।" मथुरा में स्वामी विरजानंद के रूप में उन्हें उस सच्चे गुरु की उपलब्धि हो गई। पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा स्वर्ण में परिणत हो गया। उनके सम्पर्क में आकर मूलशंकर, दयानन्द हो गये और बिदाई के समय गुरु दक्षिणा में अपने प्रज्ञाचक्षु गुरु को दुर्दशाग्रस्त भारत का पुनरुद्धार करने का वचन देकर वहाँ से बिदा हुए।

हज़ारों साल नरगिस अपनी बेनूरी पे रोती है।
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदःवर पैदा।

स्वामी दयानन्द भी इस युग के महत्तम सुधारक थे। दैवी ज्ञानागार वेदों के प्रकाण्ड पण्डित, परमात्मा की सत्ता में अटल विश्वासी, सत्यनिष्ठ, निर्भय, अखण्ड ब्रह्मचर्य के तप से तपःपूत प्रबल ब्रह्मचारी, आर्य संस्कृति के महान् उपासक, लुप्तप्राय प्राचीन ऋषि-मुनियों की परम्परा के पुनः प्रस्थापक, व्यावहारिकता से कोसों दूर केवल सिद्धान्त मात्र पर आधारित नवीन वेदांतियों के कट्टर विरोधी, धर्म को व्यावहारिकता का परिधान पहनानेवाले, विदेशी साम्राज्यवाद के सर्वप्रथम विरोधी, अछूतों को सवर्णों के समान मानवीय अधिकार दिलानेवाले, विधवाओं के साथ होनेवाले अमानुषिक अत्याचारों से उन्हें मुक्त कराकर पुनः समाज का उपयोगी अंग बनानेवाले, "स्त्री-शूद्रौ नाधीयेताम्"—सिद्धांत के सिर पर सर्वप्रथम कुठाराघात करने-वाले, वेदों को पढ़ने का मनुष्यमात्र को मौलिक अधिकार है सिद्धांत के सम्पोषक, गुरुकुलीय शिक्षाप्रणाली के पुनरुद्धारक, सहशिक्षा के कट्टर विरोधी, स्वयं गुजराती होते हुए भी हिंदी को राष्ट्रभाषा

का स्थान दिलाने के सर्वप्रथम उद्घोषक, बाल विवाह-वृद्ध विवाह के दुष्परिणामों से जनता को अवगत कराकर युवावस्था में ही स्त्री पुरुष विवाह कर सुंदर संतान उत्पन्न कर सकते हैं इस वैदिक सिद्धांत के समर्थक, पाश्चात्य दार्शनिकता "खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ" सिद्धांत की नींव खोखली कर सच्ची दार्शनिकता का मार्ग प्रशस्त करनेवाले, प्रचलित विश्वास जन्मना जाति की पोल खोलकर 'जन्मना जायते शूद्रः'—जन्म से सब शूद्र उत्पन्न होकर पुनः गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार जाति प्राप्त करते हैं सिद्धांत के प्रचारक, शंकरादि आचार्यों के अमानुषिक मिथ्या सिद्धांत कि शूद्रों को वेद पढ़ने की तो बात ही क्या, अगर कान में ध्वनि पड़ जावे तो तप्त सीसा कान में डलवा दिया जावे के गढ़ को समूल नष्ट कर स्वयं निम्नलिखित वेद मंत्र से प्रमाणित करनेवाले कि वेदों का पठन-पाठन प्रत्येक मनुष्य का स्वाभाविक जन्म-सिद्ध अधिकार है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ॥

— यजु० २६।२

[(यथा) जैसे (इमाम्) इस (वाचम्) चारों वेदरूपी (कल्याणी) कल्याणकारिणी वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूँ (जनेभ्यः) मनुष्य मात्र के लिये, (शूद्राय) शूद्रों के लिये (च) और (आर्याय) आर्यों के लिये (स्वाय) अन्तर्जन्माओं के लिये, (आचरणाय) भ्रमणशील जातियों के लिये ।]

उन्होंने ही बताया कि इस गृहस्थ-रूपी रथ के स्त्री पुरुष दो चक्र हैं जो सर्वथा समान स्तर पर ही सुचारु रूप से गति कर सकते हैं। वहाँ ऊँच, नीच एवं विशेषाधिकार का कोई प्रश्न ही नहीं है। एक ईश्वर, एक वेदानुकूल धर्म, एक भाषा एवं एक संस्कृति का पालन कर भारतवर्ष अपने लुप्तप्राय गौरव को पुनः प्राप्त करने में सक्षम हो सकेगा एवं पुनं दावा कर सकेगा—

"स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वं मानवाः ।"

अपने इन्हीं सुनहले स्वप्नों को साकार करने में जीवन भर उन्होंने संघर्ष किया । संन्यासी होते हुए भी उन्होंने समाधिगत ब्रह्मप्राप्तिके दिव्य आनन्द के प्रलोभन का परित्याग किया । घरबार, माता, पिता, बंधु, बांधव, सगे-संबंधी सबसे मुँह मोड़कर जंगल बियावान की खाक छानी, सब भौतिक सुखों का परित्याग कर जीवन भर संघर्षरत रहकर कभी चैन की साँस नहीं ली । यह सब किसलिये ? एक मात्र लुप्तप्राय ईश्वर-प्रदत्त वैदिक ज्ञानको भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं बरन् "कृण्वंतो विश्वमार्यम्" का घर-घर प्रचार करने हेतु । इस प्रकार वे जीवन भर संघर्षरत रहे, शिवजी की भाँति बारंबार स्वयं गरल पान कर जनता जनार्दन को वेदों के अमृत से प्लावित कर संसार को प्रकाश का मार्ग दिखलाकर स्वयं सदा के लिये महाज्योति में विलीन हो गये ।

तत्ववेत्ता और विचारकों के देश भारतवर्ष के महान् जातीय पर्व 'दीपावली' के दिन जब सारे भारतवासी, क्या धनी क्या निर्धन, क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या बालक क्या वृद्ध, क्या गाँव क्या नगर, सभी जगह के नर-नारी समवेत होकर दीप जला-जल कर उल्लसित हो रहे थे, ठीक उसी समय भारत माँ का लाड़ला सुपुत्र दयानन्द अपने आत्मा को पञ्चतत्त्व से पृथक् कर इस दुःख-भरे अकृतज्ञ संसार का परित्याग कर अमृतत्व की ओर प्रयाण कर रहा था ।

सामान्यतः सारी वसुधा और विशेष रूप से अज्ञानान्धकारावृत भारतवर्ष को बलात् प्रकाश को ओर ले जाने वाले महान् गुरु, वेदों के प्रकाण्ड पंडित, परमात्मा की सत्ता में अटल विश्वासी, सत्यनिष्ठ, अखण्ड ब्रह्मचारी, आर्य संस्कृति के महान् उपासक, केवल धर्म मात्र को सिद्धान्त मानकर उसे जीवन में व्यावहारिकता का रूप देनेवाले, विदेशी, विजातीय एवम् विधर्मी शासन के विरुद्ध सर्व प्रथम

आवाज़ बुलन्द करनेवाले, अछूतों को मानवता के समान अधिकार दिलाने के पक्षपाती, विधवाओं के साथ होनेवाले अमानुषिक अत्याचारों के विरुद्ध उद्घोष कर उनके साथ मानवोचित व्यवहार के सम्पोषक, कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था के प्रचारक, हिन्दुओं के प्रचलित विश्वास स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम् के प्रबल विरोधी, स्त्री पुरुषों के समानाधिकार के उद्घोषक, मनुष्यादि द्विपद के ही नहीं, गौ आदि चतुष्पाद प्राणियों के हितार्थ भारतवर्ष में सर्वप्रथम गोशाला से संस्थापक, जिनका आत्मा परमात्मा के दिव्य तेज से युक्त, वाणी मोहिनी शक्ति से ओत-प्रोत, ब्रह्मचर्यके दैवी तेज से देदीप्यमान उस महान् तपस्वी स्वामी दयानन्द के लिये दीवाली बन गई निर्वाण तिथि।

'परोपकाराय सतां विभूतयः' वाली उक्ति को अपने जीवन में शत प्रतिशत क्रियान्वित कर उन्होंने लोगों को तद्वत् जीवन यापन करने का मार्ग प्रशस्त किया। अधिक तो क्या, मानव-जीवन का कोई भी वैयक्तिक या सामाजिक ऐसा पहलू शेष नहीं रहा जिसका उन्होंने पथ-प्रादर्शन न किया हो।

"तैंने .खूबी कौन सी छोड़ी ज़माने के लिये।"

आर्यसमाज के दस नियमों में जिन उदार भावनाओं का दिग्दर्शन है वैसा संसार के किसी भी धर्म में मिलना संभव नहीं। उदाहरणार्थ सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझना क्या किसी अन्य धर्म ने सिखाया है ? स्वामी जी से पूर्व समय-समय पर अनेक महापुरुषों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने अपने ढंग से अपने युग में जनता का पथ-प्रदर्शन किया। लेकिन समस्त भूमण्डल के मनुष्य मात्र की उन्नति का मार्ग सर्वप्रथम इन्होंने ही प्रशस्त किया। ईसा, मूसा, मुहम्मद, ज़रथुस्त आदि अनेक धर्मों के प्रवर्त्तक एवं हिन्दुओं के भी भिन्न-भिन्न मतों के आचार्यों में से कौन स्वामीजी की भाँति स्त्री-पुरुषों के समान अधिकार का उद्घोष कर सका। स्त्री-शूद्र ही नहीं, अपितु संसार के प्रत्येक

मनुष्य को ईश्वरीय ज्ञान वेदों के पढ़ने का समान अधिकार है यह तो सर्वप्रथम उसी महापुरुष की देन है।

राज्य विदेशी विजातीय विधर्मी न होकर स्वदेशी स्वजातीय एवं स्वधर्मियों का ही होना चाहिये, इसका नारा सबसे पहले भारतवर्ष में इन्होंने ही बुलन्द किया था।

एक ईश्वर, एक धर्म, एक भाषा एवं एक संस्कृति के सिद्धांत को प्रस्थापित कर आर्यावर्त्त को पुनः उन्नति के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ कराकर भूमण्डल में सुख शान्ति स्थापित के करने का उन्होंने पाठ पढ़ाया, अपने इन्हीं सुनहले स्वप्नों का साक्षात् करने के लिये जीवन भर संघर्ष किया, अपमान सहे, ईंट-पत्थरों की वर्षा सहन की, लाठी-तलवारों के आघात बरदाश्त किये, बारम्बार गरलपान किया, यह सब किसलिये ? एक मात्र लुप्तप्राय ईश्वर-प्रदत्त वेदों के ज्ञान का पुनः भारतवर्ष में प्रचार करने के हेतु।

शम्मा की तरह जले, बज़्मगहे आलम में।
खुद जले दीदये अग़यार को बीना करने।

जनता को वेदामृत पिलाने के हेतु स्वयं गरल पानकर दीपावली की अमावास्या की अँधेरी रात में संसार को प्रकाशमय कर स्वयं सदा के लिये अदृश्य में विलीन हो गए। वे चले गए और आज हम उसके उत्तराधिकारी कुम्भकर्णी निद्रा में निमग्न हैं। अपने अधूरे काम को पूरा करने का ऋण हम पर छोड़कर वे जहाँ से आए थे उसी प्रभु की गोद में वापस चले गए। इत्योम्।

शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले।
घरम पर मरनेवालों का यही बाक़ी निशाँ होगा।

वैश्य जाति का प्रामाणिक इतिहास

भारतवर्ष में जितना पुराना इतिहास उपलब्ध है, वह या तो व्रतदर्शी ब्राह्मणों का है अथवा विशिष्ट राजकुलों का है। वैश्य एवं शूद्रों की ओर से तो प्राचीन इतिहासकार मौन ही रहे हैं। ये दोनों जातियाँ सदा उपेक्षित ही रहीं। अतः, वैश्य वंश की पुरातन शृंखला का उपलब्ध करना असंभवप्राय है। अतः, इस दिशा की ओर इतिहासकारों ने प्रयत्न ही नहीं किया और न अन्वेषण की चेष्टा ही हुई।

जिन महाराजा अग्रसेन से अग्रवाल वैश्यों की उत्पत्ति हुई है, उनके बारे में भी इतिहासकारों में भारी मतभेद है। कई इतिहासकार तो उनका होना ही कपोल-कल्पित मानते हैं। उनमें प्रमुख हैं—

१. काशीप्रसाद जायसवाल (हिन्दू राजतंत्र)

२. परमेश्वरीलाल गुप्त (अग्रवाल जाति का विकास)

३. शंकरलाल हीराचन्द्र ओझा

जो विद्वान् उनका होना मानते हैं उनमें भी समय का बड़ा भारी भेद हो गया—

(१) रामचन्द्र गुप्त	:	आर्य सम्वत् १,९७,२९,४९,५७२
(२) प्रभुनाथ बी० ए०	:	,, १,४८,२८,४१,९७२
(३) अग्रवाल वंशकौमुदी	:	त्रेता के प्रथम भाग में

(४) अग्रवाल जाति का प्रामाणिक इतिहास : द्वापर में
(५) अनूपसिंह राजवंशी : युधिष्ठिर से १५५६ वर्ष पश्चात्
(६) उरुचरितम् : कलि १०६ तक राज्य १०७ तक करके चले गये
(७) कंसासुर वध : कंस से कई पीढ़ी पूर्व
(८) मुख्तसर हालात अग्रेसन : २४५६ वर्ष कलिपूर्व
(९) सत्यकेतु विद्यालंकार : समय निश्चित नहीं
(१०) हरिश्चन्द्र : कलिके प्रारम्भ में-वल्लभ के पुत्र
(११) महर्षि दयानन्द के अनुसार युधिष्ठिर की ९ पीढ़ी पश्चात् अग्रसेन ने १८ वर्ष सात मास १ दिन राज्य किया।
(१२) ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दजी : परशुराम के समय

इन सम्मतियों से इतना तो निश्चय हो गया कि वे हुए तो निश्चय ही हैं। रही समय निश्चय की बात, उसके लिए शास्त्र मंथन नहीं हुआ, अन्यथा समय का निश्चय भी हो जाता।

मत्स्य पुराणः—विवस्वान् के पुत्र मनु हुए। उनके पुत्र नेदिष्ट के पुत्र नाभाग हुए।

मार्कण्डेयः—महर्षि नाभाग ने वैश्य कुमारी से विवाह कर लिया। इससे कुपित अगस्त्य मुनि ने शाप दिया और वे वैश्य हो गये। इन्हीं नाभाग के पौत्र हुए धनपाल अथवा पौराणिक 'कुबेर'। इन्होंने वैशालक-वंशी राजा विशाल की पुत्रियों से विवाह किया। इन्हीं धनपाल (कुबेर) के वंश में 'अग्रसेन' महाराज का जन्म हुआ जो वंशवृक्षावली से स्पष्ट हो जावेगा।

उपर्युक्त महर्षि नाभाग के पुत्र मलन्दन हुए जो वेदों के मंत्रद्रष्टा ऋषि एवं अपने समय के प्रतापी राजा भी थे। इन्हीं मलन्दन के पुत्र वात्सप्रिय हुए वे भी मंत्र-द्रष्टा थे एवं उनके पुत्र हुए मानकिल। ये

भी अपने पिता, पितामह की भाँति मन्त्रद्रष्टा हुए। इन्हीं मानकिल के पुत्र हुए धनपाल (कुबेर)। कुबेर के आठ पुत्र हुए जिनके विवाह वात्सप्रिय के वंशज (वात्सप्रिय के द्वितीय पुत्र प्रांशु, उसके पुत्र प्रजानी, प्रजानी के विशाल, वैशालिक) विशाल की आठ पुत्रियों से हुआ। धनपाल के पुत्र शिव हुए। इन्हीं शिवके वंश में बहुत पीढ़ी पीछे अग्रसेन का जन्म हुआ।

वंश-वृक्ष
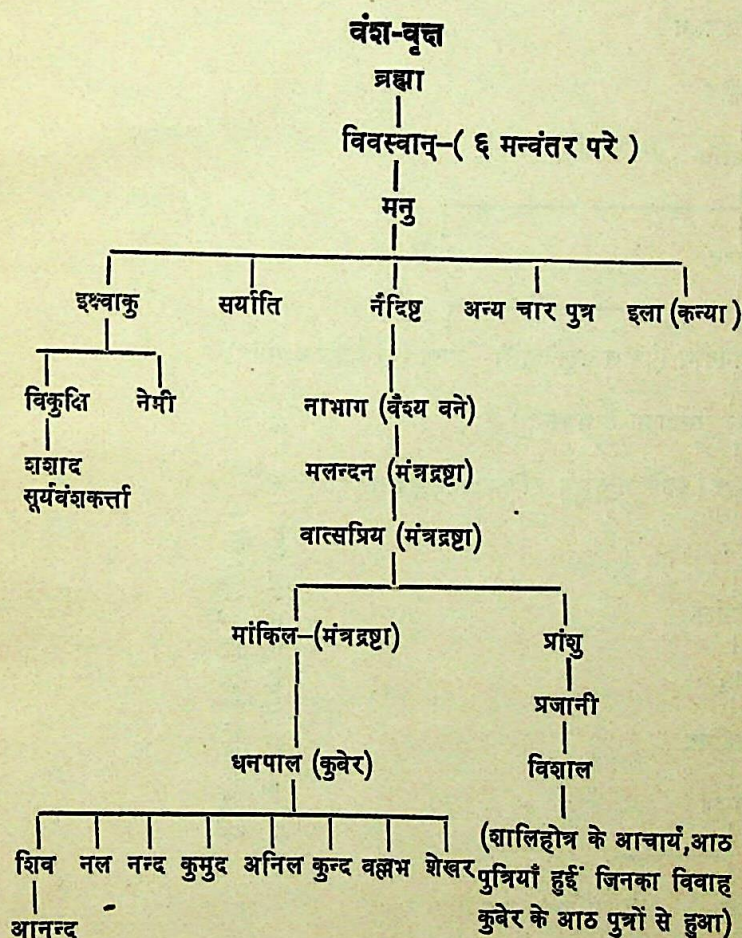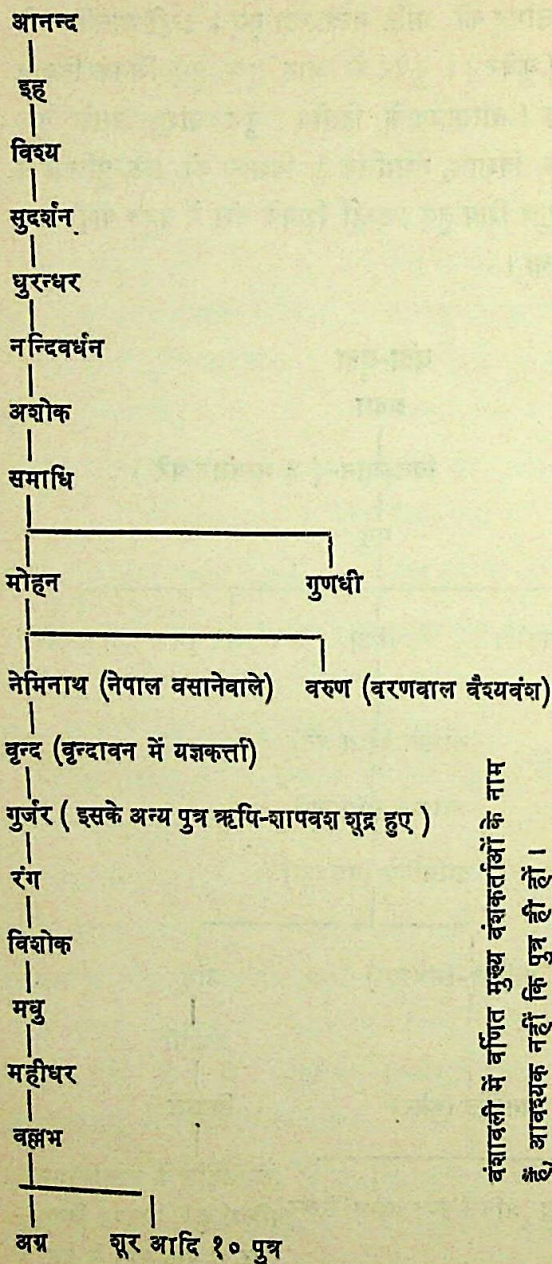
आनन्द
इह
विश्य
सुदर्शन
धुरन्धर
नन्दिवर्धन
अशोक
समाधि
मोहन
गुणधी
नेमिनाथ (नेपाल वसानेवाले)
वरुण (वरणवाल वैश्यवंश)
वृन्द (वृन्दावन में यज्ञकर्त्ता)
गुर्जर (इसके अन्य पुत्र ऋपि-शापवश शूद्र हुए)
रंग
विशोक
मधु
महीधर
वल्लभ
अग्र
शूर आदि १० पुत्र
वंशावली में वर्णित मुख्य वंशकर्ताओं के नाम हैं, आवश्यक नहीं कि पुत्र ही हों।

अग्र
विन्दु (तथा अन्य पुत्र)
नेमिनाथ
विमल
शुकदेव
धनंजय
श्रीनाथ
महादेव
दिवाकर (जैन हो गये)
यमाधर
सुदर्शन
नाग वंश-वृक्ष
सुव्रत
दक्ष
ऐलेय
कुणिम
प्रलोम
पौलोम
महीरथ-महीधर
अरिष्टमि
चरम
संजय
संजय
मत्स्य
आयोधन
मूल
शाल
सूर्य
अमर
वसु—अग्रसेन की पुत्री से विवाह
सुवसु
नागवंशावली
अनन्त
नन्द
पद्म
मयंद
महापद्म
वासुकि
तक्षक
शंख
शेषपाल
सागर
मुचिलिन्द
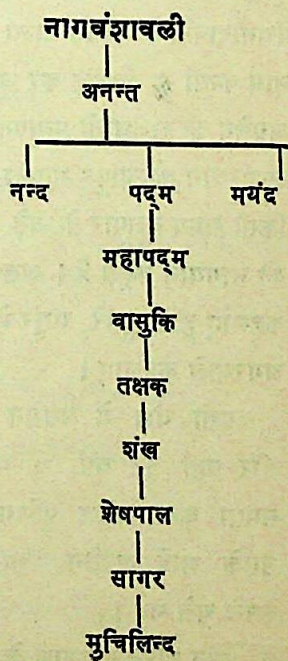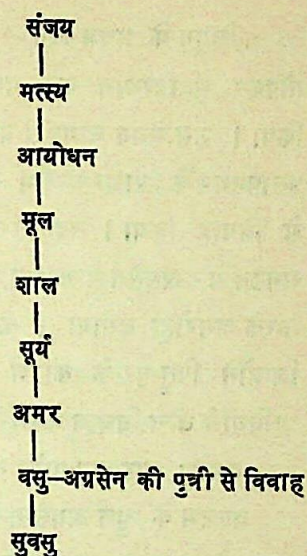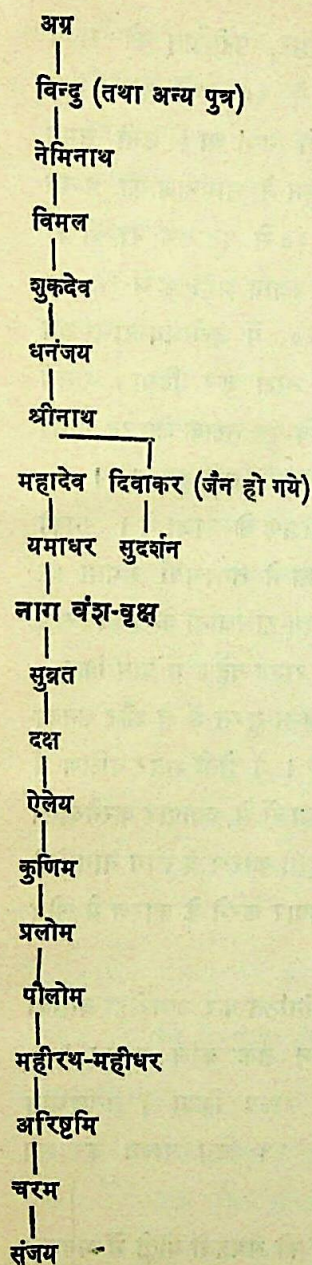
कलियुग के प्रथम दिन महाराज युधिष्ठिर, परीक्षित् को राज्य सौंपकर महाप्रस्थान कर गये। परीक्षित् ने ६० वर्षों तक राज्य किया। उस समय नागवंश बहुत बलवान् हो गया था। उसी समय प्रतापनगर के राजा वल्लभ के पुत्र अग्रसेन ने नागराज की कन्या से विवाह किया। तदनन्तर कलि सम्वत् ३० से १८ गण राज्यों का संगठन कर अग्रसेन ने आग्रेय गण के प्रधान स्थान अगेदिक में १८ यज्ञ करके अगरोहा बसाया। कलि सम्वत् ६० में जन्मेजय राजा बने जिन्होंने पितृ-वैर के कारण नागवंश का नाश कर दिया। उसमें ऋषियों के बीच-बिचाव करने के कारण वासुकि-पुत्र तक्षक शेष रह गया। अतः कुषाण साम्राज्य-पर्यंत नागवंशी पुनः उन्नति नहीं कर सके।

वल्लभ के पुत्र अग्रसेन, प्रतापनगर दक्षिण के राजा थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् अग्र राजा बने। अग्र ने तपश्चर्या समाप्त कर पंचगोदावरी से अपने राज्य जाते समय नाग-राजधानी के स्वयंवर में नाग कन्या से विवाह कर अतुल धन तथा राज्य दहेज में प्राप्त किया। अग्रसेन की राजधानी प्रतापनगर, बासंदा जिला सूरत में है और उनका जन्मस्थान कोल्हापुर सतारा के बीच में है। ये दोनों शहर दक्षिण में किसी समय व्यापार के बड़े केन्द्र थे। जहाजों से व्यापार करनेवालों को नागयान कहते हैं। अतः सम्भव है इसी कारण ये लोग नागवंशी कहलाए हों। दूसरे, मैसूर में अगर का व्यापार करने के कारण ये लोग अगरवाले कहलाए।

इसी वंश में अग्रसेन ने १८ गण संगठित कर अगरोहा बसाया और वहाँ १८ वर्ष, ७ महीने २१ दिन तक कलि सम्वत् १०६ समाप्त कर वैशाख पूर्णिमा १०९ तक राज्य किया। तत्पश्चात् उसके भाई शूरसेन १८ वर्ष, ७ मास, २१ दिन राज्य कर तप करने चले गये।

जैन हरिवंश पुराण के अनुसार सुव्रत की सत्रहवीं पीढ़ी में-भगवान् नेमिनाथ के समय में वासुकि हुए जिनका विवाह मथुरा के उग्रसेन

की पुत्री वसुमती से हुआ और उसके पुत्र (सुवसु, नागपुर-कोलापुर में कोलराज को विजय कर वहाँ के राजा बने। इन्हीं की पुत्री सुनैना से विवाह कर अग्रसेन बलवान बने।

सुवसु के एक पुत्र बृहद्रथ मगध आ गये जिनके वंश में जरासंध पैदा हुए थे।

नागपुर-कोलापुर का वर्णन महाभारत में नकुल-विजय के प्रसंग में आता है—

ततो बहु धनं रम्यं गवाद्यं धन-धान्यवान्
कार्त्तिकेयस्य दयितं रौहीतकमुपाद्रवत्
मरुभूमिं स कात्स्न्र्येन तथैव बहुधान्यकम्
शिवो त्रिगर्त्तानम्बष्ठान् मालवान् पम्पर्वंरान्
तथा मध्यमकेवांश्च वारधानान् द्विजान् तथा

वायुपुराण

३ प्रवर होने में प्रमाण

उदग्रः क्षत्रियगणः विक्रान्तः सम्बभूव ह
नाभागोऽरिष्टपुत्रस्तु विद्वानासीन्मलन्दनः
मलन्दनस्य पुत्रोऽभूत्प्रांशुनामा महाबलः—वायुपुराण ८६।३।४
प्रांशोरेकोऽभवत्पुत्रः प्रजा-निरत-विश्रुतः

मत्स्य

१४४।११६ मलन्दनश्च वात्सश्च संकीलश्चैव ते त्रयः
११७ एते मंत्रकृता ज्ञेया वैश्यानां प्रवराः सदा

ब्रह्माण्डपुराण

मलन्दनश्च वात्सश्च संकीलश्चैते त्रयः
एते मंत्रकृताश्चैव वैश्यानां प्रवराः स्मृताः

अग्रसेन.जी ने १८ यज्ञ किये। उनके अधिष्ठाता जो १८ ऋषि थे उन्हीं के द्वारा गोत्र-परम्परा चली।

गोत्र-परम्परा

ऋषि	गोत्र	वेद	शाखा	सूत्र	गोत्र के पर्याय
१—गर्ग	गर्ग	यजुः	माध्यन्दिनी	कात्यायन	
२—गोभिल	गोभिल	,,	,,	गोभिल	गोयल
३—गौतम	गौतम	,,	,,	कात्यायन	
४—मैत्रेय	मित्तल	,,	,,	,,	
५—जैमिनि	जितल	,,	,,	,,	जिंदल
६—शैंगल	सिंगल	साम	कौथुमी	गोभिल	सिंगल
७—वत्स	वासल	,,	,,	,,	वंसल
८—उरु	ऐरन	यजुः	माध्यन्दिनी	कात्यायन	
९—कौशिक	कंसल	,,	,,	,,	
१०–कश्यप	कप्फल	साम	कौथुमी	गोभिल	गावाल
११–तांड्य	तिंगल	यजुः	माध्यन्दिनी	कात्यायन	बुंगल
१२–मांड्य	मंगल	ऋक्	शाकल	आश्वलायन	
१३–वशिष्ठ	बिंदल	यजुः	माध्यन्दिनी	कात्यायन	मिंदल विदलश
१४–धौम्य	धारण	,,	,,	,,	टेरण, ढेरण
१५–मुद्गल	मुद्गल	ऋक्	शाकल	आश्वलायन	ढिगलन मधुकुल
१६–तैत्तिरीय	तायल	यजुः	माध्यन्दिनी	कात्यायन	अत्तलस
१७–नागेन्द्र	नांगल	साम	कौथुमी	गोभिल	नागल
१८–कुत्स	कुचलस	,,	,,	,,	कुच्छल

अगरोहा तथा उसका विस्तार

हिसार से १३ मील तहसील .फातिहाबाद सरसावाली सड़क पर एक विशाल जनपद था जो अब खंडहर होकर ६५० एकड़ भूमि में एक छोटा सा ग्राम-प्राय रह गया है। खुदाई में यहाँ माला के मनके, बिल्लौरी पत्थर के दाने एवं पुरातन सिक्के प्राप्त हुए हैं। वहाँ महाराज अग्रसेन के दुर्ग के अवशेष भी हैं तथा उसके साथ-साथ

पटियाला के दीवान नागरमलजो का दुर्ग भी है। ईसा से २०० वर्ष पूर्व ग्रीक इतिहासकार तोल्मी ने भी अगरोहा तथा अग्लसी (अग्रवाल) राज्य का वर्णन किया है।

इसका विस्तार १२ योजन एवं राजभवन, राजपथ, उद्यान, कूप, वाटिका, सरोवर आदि का भी यहाँ होना अग्र-वैश्य-वंशानुकीर्त्तन में वर्णित है। वर्तमान आगरा भो अग्रसेन के अनुज शूरसेन का बसाया हुआ है। उज्जैन के पास भी एक अन्य आगर नामक स्थान है जो अगरवालों का हो बसाया हुआ है।

अगरोहा के बाहर भी निम्नलिखित १८ गणों में इनका राज्य फैला हुआ था।

१—हिसार ४—सिरसा ७—पानीपत १०—मेरठ
२—हाँसी ५—नारनौल ८—जींद ११—दिल्ली
३—तुशाम ६—रोहतक ९—कैथल १२—सहारनपुर
१३—जगाधरी
१४—विद्यानगर
१५—नामर
१६—अमृतसर १७—अलवर १८—उदयपुर

(ये मिले राज्य थे)

अग्र जन्म-कुण्डली

अथाभ कलौ प्रथम चरणे (वर्षे) वृश्चिकार्के बदि पंचम्यां मार्गशीर्ष मासे शनि वासरे २३।३८ तिष्यभे अभक्षणो मेष लग्नोदये ०. १५. ४. ३८ प्रतापनगरस्थ राजा वल्लभ-गृहे पुत्र जन्मः। माता सौ० महिषो रत्नमजीजनत्। ... ...

जन्मांगमिदम्

हरिवंश पुराण

—के अनुसार जरासंध के पिता बृहद्रथ नागवंशी वैश्य थे। महाभारत काल में मगध में नागवंशो वैश्यों का ही राज्य था। उसी कुल

में महापद्म के दासीपुत्र चन्द्रगुप्त मौर्य हुए। यद्यपि ये मौर्य-वंशो प्रसिद्ध हुए लेकिन वंश-परम्परा के अनुसार ये भी नागवंशी वैश्य थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य   ३२१ ई० पूर्व से २९८ ई० पूर्व तक

बिन्दुसार   २९८ ई० पूर्व से २७३ ई० पूर्व तक

अशोक महान् २७३ ई० पूर्व से २३२ ई० पूर्व, बौद्ध धर्म ग्रहण किया।

(अजेंटा में इस काल की कृति देखें।)

२३२-१८५ ई० पूर्व तक निर्बल मौर्य सम्राट्। १८५ ई० पूर्व के पश्चात् कुषाणों-द्वारा मौर्य राज्य नष्ट हुआ। कुषाण बड़े पराक्रमी हुए। जिन भारशिव राजाओं ने कुषाणों को निकाला, वे राजा भी वैश्य थे।

(बौद्ध ग्रन्थ--महापरिनिब्बान सुत्त—६-३१)

उसके पश्चात्

गुप्त सम्राट्—३२० से ५४० ई० तक

चन्द्रगुप्त प्रथम	३२०—३३३	अन्य निर्बल शासक
समुद्रगुप्त	३३०—३७५	४६५ से ५४० तक
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य	३७५—४१३	
कुमारगुप्त	४१३—४४५	

उसके पश्चात् मिंदल-गोत्रीय वर्धन-वंश ने राज्य किया:—

आदित्यवर्धन प्रभाकरवर्धन }	५२८—६०४
राज्यवर्धन	६०४—६०६
हर्षवर्धन	६०६—६४७ ई०

भारतीय गोल्डन इतिहास

आदित्यनामा वैश्यास्तु स्थानमीश्वरवासिनः
भविष्यन्ति न सन्देहो चान्ते सर्वत्र भूनृपाः।
प्रथमाख्यो नामतः प्रोक्तो सार्वभौम-नराधिपः

आर्य मंजुश्री मूलकल्प—६१६

आदित्य नामक थानेश्वरवासी राजा एवं उसके वैश्य वंशज राजा होंगे। उसमें नाम के प्रथम में होनेवाला 'हर्षवर्धन' सार्वभौम राजा होगा।

चीनी यात्री ह्वेनत्साङ् ने भी इन्हें वैश्य माना है।

अगरोहे पर विदेशी आक्रमण

पहला:—ई० ३२६ पूर्व सिकन्दर महान् ने किया। व्याससे आगे न बढ़ने के कारण युद्ध हुआ, साधारण क्षति हुई। सिकन्दर के इतिहासकार तोल्मी ने आगरे का होना और वहाँ अग्लसी (अग्रवालों) का राज्य होना लिखा है।

दूसरा:—१२० ई० में कनिष्क का हुआ और उसने उसको अपने राज्य का अंग बना लिया। यह कुषाण सम्राटों के सिक्कों से प्रमाणित है।

तीसरा:—७१२ ई० में समरजीत तोमरवंशी राजपूत ने दिल्ली विजय कर अगरोहे पर हमला करना चाहा लेकिन उसके डरसे तत्कालीन शासक रत्नसेन एवं गोकुलचन्द ने मुहम्मद बिन क़ासिम को बुला लिया। उसने धोखा देकर अगरोहे पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में अगरोहे की पर्याप्त क्षति हुई।

चौथा:—११९१ में मुहम्मद ग़ोरी ने आक्रमण करके इस शहर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। तब से वह फिर नहीं बस सका और खँडहर मात्र शेष रह गया।

अग्रवालों के भेद

१८	गोत्र	अग्रवाल
१८	"	दस्से अग्रवाल
१८	"	महाजन
८	"	राजवंशी (राजा रत्नचंद के समय से पृथक्)

१० „ शूरसेनी
१८ „ जैनी अग्रवाल

गिन्दोडिये, सिख और मुसलमान बहुत कम हैं।

अग्रवाल ऐतिहासिक पुरुष

जम्मुस्वामी-चरितम् के लेखक पं० राजमल ने अपने परिचय में अपने को अग्रोतक गर्ग लिखा है (ये अकबर काल में हुए हैं)।

तज़किरातुलउमरा के लेखक केवलराम ने अपने को अग्रवाल लिखा है। ये औरंगज़ेब के समय में हुए।

कौशाम्बी के निकट प्रभाकरवर्धन की धर्मशाला के शिलालेख में निर्माणकर्त्ता ने अपने को गोयल-गोत्रीय लिखा है। (संवत् १८८१)

देहली से पाँच मील पर सरवण ग्राम के शिलालेखमें (सं० १३८५) अपने को अग्रोतक निवासी वणिक् लिखा है।

बहलोल लोदी-काल के शिलालेख में (सं० १५१५) अलवर-राज्यान्तर्गत माचेडा ग्राम में लिखा है—'निर्माणकर्त्ता अग्रस्थान-निवासी वणिक्।' रामायण से लेकर महाभारत काल तक रौहितकगण, व शिवि मालव के बीच हिसार प्रान्त में आग्रेयगण की उपस्थिति का वर्णन है। अगाच्च मित्र की मुद्राओं से अग्रेय तथा उसके भिन्न राज्यों का होना प्रमाणित है कि अग्रसेन कलि के प्रारम्भ में हुए।

अगरोहा, सभाल, महम, तोशाम, हाँसी, हिसार में अग्रवालों की सतियों की समाधियाँ हैं जो युद्ध में काम आनेवाले वीरों के साथ सती होनेवाली स्त्रियों की यादगारें हैं, जहाँ आज भी कर्ण-छेदन एवं चूडाकर्म-संस्कार के हेतु अग्रवाल वंशज बड़ी श्रद्धा से जाते हैं।

ब्रह्मसर गोदावरीके पण्डे आज भी अग्रसेनकी उग्र तपस्या के यश का वर्णन करते हैं। उनके वंशज दिवाकरने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था।

यह तथ्य जैन ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर वर्णित है एवं दिवाकर का राज्य त्याग कर अपने पुत्र को राज्य देना जैन-शास्त्र-सम्मत है।

महाभारत-काल में युधिष्ठिर के यज्ञ में ११८ गणों के प्रतिनिधियों का सम्मिलित होना लिखा है। उसमें जहाजों-द्वारा विदेशों से व्यापार करनेवाले सागर-तटवासी वैश्यों के सम्मिलित होने का भी वर्णन है।

बौद्ध ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर वैश्यों का वर्णन है। बौद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ आर्य-मंजुश्री मूल-कल्प पृ० ६५१

कथिता द्वापर-युगे नृपा पूर्व-निबोधिताः।
युगान्ते चाष्टलोकेशास्ते तु प्रवचने भुवि॥
भविष्यन्ति न संदेहो सततं राज्यवर्त्तिनः।
तद्यथा मातृचीनाख्यो सुकुमाराख्यश्च विश्रुतः।
मकाराख्यो कुकाराख्यो वकाराख्यो धर्म-चिंतकः।
अकाराख्यो महात्मासौ शास्त्र-शासन-धुरन्धरः।
गुणसम्मतो मतिमान् लकाराख्याः प्रकीर्तिताः।
नागादयश्च समाख्याता रत्नसम्भवनामतः।

द्वापर के अन्त में वास के समय नागवंशी दक्षिण दिशा में प्रसिद्ध होंगे। (विख्याता दक्षिणां दिशि)।

महीधर कुमुद अग्र हुण वैश्यवर्ण-शिशुस्तदा
नागराज समाधेयो गौड-राजा भविष्यति
वैश्यैः परिवृता वैश्य-नागाहैर्यो समन्ततः।

पश्चात् वैश्य वर्ण का शिशु नागराज-द्वारा सत्कृत गौड देश (हिसार) का राजा वैश्यों द्वारा परिवेष्टित होगा।

आगे लिखा है—

विन्ध्यकुक्षि-निविष्टाश्च अग्रैन्दैश्च समन्ततः।

विन्ध्याचल की कोख में अग्र राज्य में मंत्र-सिद्ध होते हैं।

सिंहलानां पुरी रम्या सिद्धयन्ते मंत्रदेवताः
समुद्रतीरे द्वपेषु सर्वत्र च जलाशये।

रम्य सिंहल देश (लंकापुरी) में मंत्र देवता सिद्ध होते हैं।

साखन अभिलेख (लाल क़िला दिल्ली १३७)

देशोऽस्ति हरियानस्य पृथिव्यां स्वर्गसन्निभः
दिल्ली चाख्या पुरी तत्र तोमरैश्चात्र निर्मिता।

हरियाना प्रदेश पृथ्वी पर स्वर्ग है। इसमें दिल्ली तोमरों की बसाई हुई है।

अथ प्रताप-दहनः दग्धारिकुलकाननः।
म्लेच्छस्सहाबदोनस्तां बलेन जगृहे पुरीम्। ५

इसके पश्चात् वैरी-कुल-दर्प नाशक शहाबुद्दीन म्लेच्छ ने उस पुरी को बल से ले लिया।

ततः प्रभृति मुक्ता सा तुरुष्कैर्यावदिद्ययुः।
श्रीमहम्मद शादिस्तां याति संप्रति भूपतिः। ६

उस समय तक वह पुरी तुरकों ने भोगी। मुहम्मद का शासन चल चला है।

तस्यां पुर्यास्ति अपि च वणिजामग्रोतकनिवासिनाम्।
वंशः श्रीसत्यदेवस्य साधु तत्राप्यवस्थितः॥

उस पुरी में अग्रोतक निवासी वणिजों के वंश में सत्यदेव नाम का साधु हुआ।

अग्र-वैश्य-वंशानुकीर्तन—(महालक्ष्मी-व्रत-कथा)

ततो गत्वा तथा राजा पूजां च समारभत्।
शीर्षस्य नन्दामारभ्य पौर्णिमासीं तिथावधि।
मासयावन्मकरोत् राजाग्रो च विशांपतिः॥

वैश्यों के स्वामी राजा अग्रने मँगसिर (मार्गशीर्ष) बदी प्रथमा से पूर्णमासी तक एक मास पूजा की।

वरं ब्रूहि महाराज यस्ते मनसि वर्त्तते।
ददाम्यद्यैव सकलं तव पूजा-प्रतोषिता। ९०

मैं तुम्हारी पूजा से प्रसन्न हूँ। यथेष्ट वर माँगो।

यदि देहि वरं देवि ! शक्रं मम वशं नय। ६१

देवि ! यदि वर देती हैं तो इन्द्र को मेरे वश में कर दो।

तव कुलं न विमोक्ष्यामि यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
वश्ये भवतु ते शक्रो सदेव-बलवाहनः।

सूर्य चन्द्रमा जब तक अवस्थित हैं, मैं तुम्हारे वंश का साथ नहीं छोड़ूँगी। देववाहन-सहित इन्द्र तुम्हारे वश में हों।

यस्य गेहे भवेत् पूजा तस्य दारिद्र्यनाशनम्।

जिसके घर में मेरी पूजा होगी उसका दारिद्र्य नष्ट हो जावेगा।

अवतारो नागराजस्य अस्ति कश्चिन्महीरथः।
कौल-विध्वंसि-भूपस्य कन्यका नाम लोचना।
तस्याः गृह्णीष्व पाणिश्च त्वदर्थे तपसि स्थिता
तासां पुत्रैश्च मही व्याप्ता भविष्यति।

कौलोंके राजा नागराज के पुत्र महीरथ को कन्या सुलोचना जो तुम्हारे लिये तप कर रही है, उसका पाणिग्रहण करो। उसकी संतान से घर भर जावेगा।

उरु-चरित

चतुर्वेद-परिज्ञाता प्राणिमात्रोद्भवः स्मृतः
ब्रह्मणस्तु विवस्वान् हि ततो मनुरजायत।

सृष्टि के आदि में चारो वेदों के ज्ञाता ब्रह्माजी से विवस्वान् तथा विवस्वान् के मनु हुए।

वर्णाश्रम-प्रमाणं च क्रमशः स्थापको मनुः।
तस्य पुत्रद्वयं जातं नैदिष्टश्च इला तथा।

वर्णाश्रम-धर्मके संस्थापन-कर्त्ता मनु, उनके पुत्र नैदिष्ट, नैदिष्ट के अनुभाग हुए।

इलातः कालवंशस्य प्रारम्भो हि तदाभवत्
नैदिष्टानुभागौ वै ततो जातः मलन्दनः।

नैदिष्ट के अनुभाग एवं अनुभाग के मलन्दन (मंत्र-द्रष्टा) हुए।

मरुत्वनी तस्य भार्या ततो वात्सप्रियः सुतः
मांकिलो मंत्रद्रष्टा तु महाविद्वानभूत्सुतः।

मलन्दन की भार्या मरुत्वती से वात्सप्रिय (मंत्र-द्रष्टा) और उनके महाविद्वान् पुत्र मांकिल उत्पन्न हुए।

ब्राह्मणैर्हि तदा श्रेष्ठैः राज्ये प्रस्थापितः स्वयम्।
नगरस्य प्रतापस्य ततः स्वामी अभूदयम्॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने तेजस्वी समझ कर उनको स्वयं सिंहासनारूढ किया। अतः वह प्रतापनगर का स्वामी हुआ।

तस्याष्टौ सूनवो जाता अमी तेजस्विनः स्मृताः।
शिवो नलश्च नन्दश्च ह्यनिलः कुमुदस्तथा।
कुन्दश्च वल्लभश्चैव शेखरः परिकीर्तितः।

उनके आठ तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुए–शिव, नल, नन्द, अनिल, कुमुद, कुन्द, वल्लभ, शेखर।

जम्बूद्वीपे च स्वामित्वं शिवस्य प्रोच्यते बुधैः।
कुलं तस्यैव श्रेष्ठस्य विस्तारं प्राप्नुयात्सदा।

इनमें शिव का राज्य जम्बू द्वीप पर हुआ और यह श्रेष्ठ कुल उत्तरोत्तर विस्तृत होता गया।

शिवस्य पुत्राश्चत्वारः आनन्दः पुत्रकः स्मृतः।
स्वेच्छयैव च शेषस्तु योगस्य............कृतम्

शिव के चार पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें आनन्द को छोड़कर तीनों ने स्वेच्छा से योग-साधना स्वीकार की।

आनन्दादयो जातः ततो विश्यः समाभवत्।
ततो वैश्य-समाजज्ञैर्धर्मनीतिश्च शाश्वतम्।

आनन्द से अय एवं अय से विश्य उत्पन्न हुए। इन्हीं विश्य को संतान वैश्य कहलायी।

सुदर्शनो नृपस्तस्मिन् वंशे समभवत्तदा।
धुरंधरस्य समजनि नन्दिवर्धनस्तदा।

विश्य से सुदर्शन, सुदर्शन से धुरन्धर, धुरन्धर से नन्दिवर्धन उत्पन्न हुआ।

प्रशस्तरूपो विद्वाँश्च लोकोपकरणे रतः।
ततोऽशोकोऽशोकात्तु समाधिरभवत्तदा।
संसारे महती कीर्त्तिर्येन प्राप्ता प्रतिष्ठिता।

राजा धुरन्धर रूपवान् तथा परोपकारी थे। उनके पुत्र नन्दिवर्धन से महान् अशोक हुए जिन्होंने संसार में महत् कीर्ति प्राप्त की। उनके पुत्र समाधि थे। बहुत वर्षों पश्चात् इसी वंश में—

तेषु वल्लभो नाम पितुर्द्रव्यस्य स प्रभुः
अग्रसेनः शूरसेनः वल्लभस्य सुतद्वयम्।

महीधर के बड़े पुत्र वल्लभ हुए और वे पिता की सम्पत्ति के अधिकारी हुए। उनके अग्रसेन एवं शूरसेन नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए।

अग्रसेनस्य नार्यंस्तु अष्टादश प्रकीर्त्तिताः
प्रत्येकस्याः महिष्यास्तु तस्य वै पृथिवीपतेः
त्रिपुत्राश्चैकादुहिता अभवत् हर्षदायकाः
सुपात्रा चैव माद्री च शूरसेनस्य कथ्यते
प्रथमायाः महिष्यास्तु प्रभवत् तनयः त्रिकम्
सप्तपुत्राः द्वितीयातः शूरसेनस्य भूपतेः।
दृष्ट्वा वंशस्य वृद्धि हि ज्येष्ठो भ्राताऽग्रसेनकः
स्वयं चायं निवासार्थं गौडदेशं प्रमन्यते।
गंगाया यमुनायाश्च जायते सुप्रवाहितः

अग्रसेन की १८ रानियों में से प्रत्येक से तीन पुत्र तथा एक पुत्री उत्पन्न हुई। शूरसेन की भार्या सुपात्रासे ३ पुत्रियाँ तथा माद्री से सात पुत्र उत्पन्न हुए। वंश की वृद्धि देखकर अग्रसेन ने अपने लिये गौड देश चुना जहाँ गंगा यमुना दोनों प्रवाहित होती हैं। इस प्रकार वर प्रदान कर लक्ष्मी जी अंतर्धान हो गयो। राजा अग्र अपने नगर को ओर चले।

पथि कौलपुरं दृष्ट्वा राजा यत्र महीरथः।
तद् गेहे सर्वं राजानो विवाहार्थं समागताः। १०१

मार्गं में कौलपुर के राजा महीरथ के यहाँ देश देशान्तर के राजा लोग स्वयंवर में उपस्थित थे।

सिंहासनस्थिताः सर्वे रंगभूमौ महोत्सवे।
अग्रोऽपि तत्र न्यवसल्लक्ष्मीवाचानुदीरितः। १०२

सारे राजा यथास्थान सिंहासनारूढ थे। महालक्ष्मी के वचनानुसार अग्र भी यथास्थान बैठ गया।

एतस्मिन्नन्तरे कन्या सर्वा वामलोचनाः।
जयमालाग्रग्रीवायां अर्पयामास प्रेमतः। १०३

सुनयना राजकुमारियों ने जयमाला राजा अग्र के गले में डाल दी।

अददत् राजा गजाश्च रथभूरिशः।
पदाति-दासी-दासांश्च स्वर्ण-रत्न-परिच्छदान्॥

राजा महीरथ ने कन्यादान में हाथी, घोड़े, रथ, पदाति, दास, दासी स्वर्ण, रत्नाभूषण अपार मात्रा में प्रदान किये।

शूरसेने गते देशे वैश्यनाथे शचीपतिः।
ऐरावतं समारूढः सन्ध्यर्थं सहनारदः।

शूरसेन एवं अग्र के देश जाने पर नारद-सहित इन्द्र ऐरावत पर समारूढ होकर सन्धि के लिये आये।

मुनेर्गर्गस्य चादेशात् यज्ञं कर्तुं मनो दधौ
प्रेषितं सर्वदेशेषु सवनस्य निमंत्रणम् ।

उसके पश्चात् गर्ग मुनि के आदेश से अग्रसेन एवं शूरसेन दोनों भाइयों ने यज्ञ प्रारम्भ किया और तदर्थ सबको आमंत्रित किया ।

प्रत्येकस्मै शूरसेनः सादरं वासमाददात् ।
अग्रसेनः सवनस्याधिष्ठाता सर्वसम्मतः ॥

शूरसेन आगत अतिथियों के स्वागत में लगे तथा अग्रसेन सर्वसम्मति से यज्ञ का अधिष्ठाता बना ।

सार्धसप्तदशान् यागान् अग्रसेनो ह्यपूरयत् ।

साढ़े सत्रह यज्ञ अग्रसेन ने पूर्ण किये ।

उन्हीं यज्ञों की दीक्षा लेनेवाले दोनों भाइयों की संतानों के नाम से गोत्र प्रचलित हुए ।

अग्रसेनस्य वंशानां गोत्राण्येतानि सन्ति वै
गर्गो वै गौतमश्चैव गावालः कांसलादयः ।

गर्ग, गोयल, गौतम, मित्तल, जिंदल, सिंगल, बंसल, ऐरन, कंसल, गावाल, तिंगल, मंगल, बिंदल, धारण, मुद्गल, तायल, नागल, कुच्छल ।

प्रकृति की अभूतपूर्व देन मधु

वनस्पति एवं प्राणिजगत् के प्रयास से मधु की उत्पत्ति होती है। अतः मधु पुष्पों का सारभूत मकरन्द एवं अनेक पोषक तत्त्वों का सम्मिश्रण है। पुष्पों के विकसित होने के साथ उसमें मधुर तत्त्व की वृद्धि होने लगती है जिसे मधु-मक्खी अपनी जिह्वासे चूसकर घनीभूत बनाकर मधु के रूप से मोम-निर्मित गृह में एकत्र करने लगती है। विशिष्ट-गुणयुक्त होने के कारण ही इसे नवजात शिशु की जिह्वा पर स्वर्ण-शलाका से चटाने का विधान है, आगत विशिष्ट अतिथि को मधुपर्क अर्पित करना एवं विवाह के अवसर पर नवागत वर का मधुपर्क से सत्कार करना एवं पूजा के अवसर पर देवता को भी अर्पित करने का विधान अपने शास्त्रों में हैं।

रासायनिक विश्लेषण से इसमें निम्नांकित पदार्थ हैं :—

द्राक्षोज, फ्लोज शर्करा—	७३%
इक्षु-शर्करा	२०%
खनिज लवण : लौह, ताम्र, गंधक फौस्फेट, पोटाशियम	०.२३%
डेक्स्ट्रीन—	०·४५%
अम्ल	१६०%
अन्य (रेज़िन, गोंद, मोम, तेल, प्रोटीन आदि	३·८०%
जल, विटामिन बी, बी², सी, निकोटिन एसिड	२०%
गुरुत्व (ग्रेविटी)	१४

आपेक्षिक—

सत्तर सेन्टीग्रेड से अधिक ऊष्मा से इसके पोषक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। अतः इसको गर्म जल अथवा सूर्य-ताप से ही पिघलाना चाहिये। फ्लोज शर्करा की अधिकता के कारण शहद घनीभूत हो जाता है।

गुणों की तालिका

(१) कार्बोहाइड्रेटस् के कारण पोषक है।

(२) मधु सीधा रक्त में मिश्रित हो जाता है, इसीलिये आयुर्वेद में औषध-सेवन का श्रेष्ठ अनुपान माना गया है।

(३) मधुर होते हुए भी कफ-नाशक है (अन्य मधुर पदार्थ कफ-वर्धक होते हैं)

(४) शीत वीर्य होते हुए भी त्रिदोष-नाशक है।

(५) शरीर के वृथा-जलीय अंश को घटाता है।

(६) वर्धित शरीर-वसा को गलाकर मोटापा कम करता है।

(७) दुर्बलता-नाशक, पुष्टिकर एवं रुचि-वर्धक है।

(८) सद्यःप्रसूता स्त्री एवं नवजात शिशु के लिए परम लाभप्रद है। गर्भावस्था में पोषक एवं रक्षक है।

(९) मधु अत्यन्त रक्त-शोधक है।

(१०) नेत्र-रोगों में उपकारी है।

(११) वमन, तृषा, कंठगत रोग. फुफ्फुस-रोग, श्वास, कास, प्रसूत, क्षय, ज्वर, कुष्ठ, रक्त-विकार, बवासीर, मन्दाग्नि, संग्रहणी, रक्त-पित्त, वात, हृद्रोग, दाह, मेदवृद्धि आदि रोगों में लाभदायक है।

(१२) मधुमेह (शुगर) में भी सेवन करने पर हानि-रहित है।

(१३) आन्त्र क्रिया को नियमित कर अपच भाग को निष्कासित करने में सहायक है।

(१४) मधुमिश्रित दुग्ध अत्यंत पुष्टिकर है।

(१५) वृक्क में से अम्ल (यूरिक एसिड) को निष्कासित कर उसे क्रियाशील करता है।

(१६) कण्ठगत रोगों को दूर कर स्वर को मधुर बनाता है।

(१७) अंगों में कोमलता एवं सौंदर्य बढ़ाकर स्फूर्त्ति प्रदान करता है।

(१८) पेटगत कृमि-नाशक है।

(१६ घावों को शीघ्र भरने में सहायक है।

(२०) एक पौण्ड मधु, दूध में मिला कर सेवन करने से दस पौण्ड मांस या एक सौ अंडे से अधिक बल-दायक होता है।

•

गुप्तजी का दूसरा ग्रन्थ
दर्शन, साहित्य और इतिहास

दर्शन, साहित्य और इतिहास परस्पर एक दूसरे से संबद्ध हैं। यद्यपि ये तीनों विषय एक दूसरे के पूरक हैं फिर भी ऐसे अध्येता कम होते हैं जो तीनों पर समान अधिकार से लिख सकें। गुप्तजी ऐसे ही विचित्र पुरुष हैं। इस ग्रन्थ में जहाँ दार्शनिक तत्त्वों की सरल मीमांसा की गई है वहीं अनेक साहित्यिक और ऐतिहासिक भ्रान्तियों का निराकरण भी किया गया है। मूल्य १०)

गुप्तजी की तीसरी पुस्तक
यह दुनिया एक कहानी है
या
अलौकिक अल्पाख्यान-शतक

गुप्तजी जहाँ गंभीर विषयों के व्याख्याता हैं वहीं उन्होंने सरल भाषा में उन अनेक ऐतिहासिक, काल्पनिक, मनोरंजक, विनोदात्मक, उपदेशात्मक तथा उद्बोधक आख्यानों का संचय किया है जिन्हें पढ़कर जहाँ एक ओर वाचक का मनोरंजन होता है वहीं दूसरी ओर उसके चरित्र का उदात्तीकरण और उन्नयन भी होता है। सब अवस्थाओं के वाचकों के लिये पठनीय और संग्रहणीय। मूल्य ५)